सूर के सौ कूट

[भक्त कवि सूरदास कृत दृष्टकूटों का सटिप्पण संकलन]

चुन्नीलाल 'शेष'

प्रकाशक

कृष्णचन्द्र बेरी

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

पोस्ट बाक्स नं० ७०, ज्ञानवापी

वाराणसी

संवत् २०१३ प्रथमावृत्ति

मूल्य ५)

मुद्रक

महेन्द्रप्रसाद गुप्त

श्रीशंकर मुद्रणालय

हाथीगली, वाराणसी

समर्पण

उन्हीं

लीला स्थित सूरदास-सम

कविरत्न 'नवनीत' चतुर्वेदी

को

जिनकी गोद में बैठ

साहित्य-नवनीत का रसास्वादन

किया

कृतज्ञता-ज्ञापन

जिस प्रकार हिंदी साहित्य के 'मध्य-कालीन-साहित्य' में भक्त शिरोमणि 'सूरदास' के पदों का प्रादुर्भाव हुआ, उसी भाँति उन्नीसवीं विक्रमीय शताब्दि में उनके प्रकाशन का भी यथेष्ट प्रचार रहा, क्योंकि उस काल में जहाँ लीथो-प्रेसों की विविध प्रकाशित 'सूरसागर' की अनेकों प्रतियाँ मिलती हैं वहाँ हस्त-लिखित प्रतियाँ भी यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में सूर-साहित्य के पठन-पाठन में साहित्यकों की एवं जनता की विशेष अभिरुचि रही, किंतु उनमें कुछ रचनाएँ ऐसी भी थीं जो जनसाधारण के अध्ययन के मार्ग में 'कूट' की भाँति आकर अचल हो जाती थीं और पाठकों के रसास्वादन-सरिता का मार्ग अविरुद्ध कर देती थीं। इस कमी को उस समय के विद्वानों ने पहिचाना। अतः सबसे पहिले 'साहित्य-लहरी' की टीका 'सरदार कवि' ने की। टीका करते समय उन्होंने सूरदास के अन्य दृष्टिकूट जो सूरसागर में मिलते थे वे तथा अन्य जो अन्यत्र उनको मिल सके, उन्हें साहित्य-लहरी में सम्मिलित कर उनके अर्थ भी लिखे। भारतेंदु 'बा० हरिश्चंद्र ने भी जहाँ साहित्य-लहरी की टीका तथा सरदार कवि कृत अर्थों की विवेचना की, वहाँ उन्होंने सरदार कवि कृत अन्य पदों को उसी रूप में दे दिया, जिस रूप में वे उक्त साहित्य-लहरी में उपलब्ध थे। इसी काल में श्री 'बालकिशन दास' ने 'सूर-शतक' नाम से सूरदास के कूटों का एक और संग्रह अर्थ-सहित प्रकाशित किया। इसमें उन्होंने अछूता छोड़ अन्य कूट-पदों का संग्रह कर लिया। यह पुस्तक गुँसाईं श्री १०८ साहित्य-लहरी के पदों को श्री गिरधरलाल जी महाराज की भेंट है। यद्यपि इस पुस्तक का नाम 'सूर-शतक' है, तथापि इसमें पूर्वार्द्ध रूप केवल पचास पद ही दिये गये हैं, जो प्रथम बनारस लाइट प्रेस से मुद्रित हुई, बाद में अन्यत्र से। परंतु अब ये सभी पुस्तकें अप्राप्य हैं।

प्रस्तुत पुस्तक भी 'बालकिशन दास' की भाँति ही सूरदास के कूटों की टीका है। सूर-कृत साहित्य-लहरी से इसका कुछ भी संबंध नहीं है, किंतु वे सभी कूट इस पुस्तक में हैं, जो 'नागरी-प्रचारिणी सभा काशी' द्वारा प्रकाशित 'सूर-सागर' में दिये हैं। इनके अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य-लहरी तथा सूर-शतक के वे भी कूट दिये हैं, जो नागरी-प्रचारिणी सभा वाली प्रति में उपलब्ध नहीं हैं। अस्तु, पुस्तक में प्रयुक्त उन सभी पदों का विवरण कि वे कहाँ-कहाँ से लिये गये हैं, सबका संकेत प्रत्येक पद के नीचे उन-उन प्रतियों के सूक्ष्म नामों के सहित पृष्ठ-संख्या तथा पद-संख्या के साथ प्रत्येक पाठांतर के साथ दिया है।

अतएव अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों के प्रति जिनके बनाये हुए सेतु से एक लघु पिपीलिका की भाँति बिना श्रम ही मैं पार जाने में समर्थ हुआ हूँ, अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन सज्जनों को भी नहीं भूल सकता जिनकी प्रेरणा से इस टीका की रचना हुई। उनमें कविवर दीनानाथ जी 'सुमनेश' शास्त्री, साहित्य-रत्न मुख्य हैं तथा हमारे पूज्य पिता जी के मित्र श्री जवाहरलाल जी चतुर्वेदी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना तो एक हलकापन ही रहेगा, जिन्होंने अपने पुस्तकालय से सूरसागर की अनेक प्रतियाँ जिनका उल्लेख प्रत्येक पद के नीचे दिया हुआ है, निकाल कर ही नहीं दी वरन इस पुस्तक का मूल के साथ समस्त प्रूफ रीडिंग भी किया है।

इसके साथ ही पुस्तक-प्रकाशक श्री 'कृष्णचंद्र जी बेरी' को भी नहीं भूला जा सकता, जिन्होंने अत्यंत कार्य व्यस्त तथा अनेक बाधाओं के होते हुए भी बड़ी लगन से पुस्तक के प्रकाशन में अभिरुचि प्रदर्शित की है।

अंत में मैं उन सब लोगों का भी आभारी हूँ, जिनसे मैं समय-समय पर अनेक सुंदर सुझाव और सत्-परामर्श पाता रहा हूँ।

गंगा दशहरा
सं० २०१३
मथुरा

चुन्नीलाल 'शेष'

मंगलाचरण

—:-०:—

द्रुम मुखरित, हुलसित धरा, पुलकित गगन गँभीर।
मधु माधव राधा रुचिर, बिहरति जमुना तीर॥

❀

करैं मिलि केलि कला कमनीय,
बिसारद नारद हारद मूर।
धरैं ससि सेखर सीस सु भाल,
मृनाल लौं बाँह बनी गल पूर॥
रचैं रस रास हुलास बिलास,
दृगंचल झाँकत जे दृग सूर।
भरैं मुद मंगल मोद महान
करैं सब के सब संकट दूर॥

'शेष'

संकेत-चिह्न परिचय

संकेत-चिह्न		विवरण
आ०	...	आगरा (लीथो की मुद्रित प्रति)
कां०	....	कांकरौली (हस्त-लिखित सूरसागर, सरस्वती-भंडार)
चु०	...	चुन्नीलाल (लेखक के पास की हस्त-लिखित प्रति)
दि०	....	दिल्ली (हस्त-लिखित तथा लीथो की छपी प्रति)
नव०	....	नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, (तीन प्रति)
ना० प्र०	....	नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (मुद्रित प्रति)
नि०	....	नित्य-कीर्तन अहमदाबाद (मुद्रित)
पो०	...	पोद्दार सेठ हनुमानप्रसाद कलकत्ता, (हस्त-लिखित प्रति)
बाल०	....	बालकिसनदास काशी (लीथो की मुद्रित प्रति)
मथु०	...	मथुरा (लीथो की मुद्रित प्रति)
रा० क० द्वि० भा०	...	राग कल्पद्रुम द्वितीय भाग कलकत्ता, (मुद्रित)
वर्षो०	...	वर्षोत्सव अहमदाबाद (मुद्रित)
वें०	...	वेंकटेश्वर प्रेस बंबई (मुद्रित)
वें० प्रे०	...	,, ,,
सर०	...	सरदार कवि-कृत साहित्य-लहरी लखनऊ, (मुद्रित)

विशेष विवरण सहायक-ग्रंथ-सूची में देखिये ।

अनुक्रमणिका

(अंक पद-संख्या के द्योतक हैं)

ज

त

द

म

य

र

स

राग-सूची

(पद संख्या ८४ से ८९ तक सरदार कवि-कृत 'साहित्य लहरी' से लिये गये हैं, उसमें उन्होंने किसी भी राग का नाम नहीं दिया है)

भूमिका

भूमिका

व्यक्त नाद शब्द है। शब्द अर्थ का द्योतक है। अर्थ ज्ञान का अनुचर है। ज्ञान ब्रह्म है और ब्रह्म ही कवि है, क्योंकि वही ज्ञान का अधिकारी होकर शब्द और अर्थ पर नियंत्रण द्वारा अपनी सृष्टि की स्वयं रचना कर लेता है। इस प्रकार अपनी रचना का वह आप ही नियामक तथा विधेयक बन जाता है।

जन साधारण के लिए वाचक शब्द रूढ़ि, योगरूढ़ और यौगिक रूप धारण कर वाक-दान करते हैं किंतु कवि इस रूढ़िवाद का खंडन कर "दारू योषित" की भाँति उनको नचाता है। वह उनसे खिलवाड़ करता है और प्रत्येक शब्द को अपना मनवांछित कार्य करने का आदेश देता है। साधारण पाठक "अर्ध ढके शब्दों" को अर्ध ढके कुच और केश[1] से समता देकर उसके रसास्वादन को भले ही कर लें, किंतु जिस गहन गंभीरता का नाद काव्य की अंतरात्मा में होता है उसको समझने वाले विरले ही रसिक होते हैं।[2] इस प्रकार के काव्य का जो चित्र, कवि-चित्रकार बिना रंग के ही, मनुष्यों के हृदय की शून्य भीति पर चित्रित करता है, वह युग-युग भी उसका साथ नहीं छोड़ता तथा अमर पद को प्राप्त होता है। यह बात तो उन रसिकों की और पंडितों की हुई जो साहित्य-सागर में डूब कर तर गये हैं, किंतु कवि का जहाँ साधारण स्तर के मनुष्यों से काम पड़ता है, वहाँ उनमें जिज्ञासा उभारने के लिए, तथा अपना संदेश उन लोगों को सुनाने और उनमें उसे स्थाई बनाने के लिए, न केवल अर्थ गोपन का ही सहारा लेता है प्रत्युत शब्द-जाल भी ऐसा खड़ा कर देता है कि उसका अर्थ समझना साधारण जन के लिए सुगम नहीं। साधारण जन

---

१ दो०—सर्व ढके सोहैं नहीं, उघरे होत कुबेस।
अर्ध ढके छबि देत हैं, कवि-अच्छर, कुच, केस ॥

२ दो०—तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रस रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग॥

ही क्यों, श्री गणेशजी महाराज तक को इन्हीं शब्द-जालों के चक्कर में पड़कर व्यासजी की सम्पूर्ण महाभारत लिखनी पड़ी थी।[1] प्रसिद्ध है कि व्यासजी को जब महाभारत लिखने के लिए कोई योग्य लेखक न मिला तब उन्होंने गणेशजी से लिखने के लिए प्रार्थना की, जिसको उन्होंने इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि मैं निरंतर लिखता जाऊँगा, जिस समय मेरा हाथ रुक जायगा मैं लिखना छोड़ कर चला जाऊँगा। व्यासजी ने उक्त शर्त को स्वीकार करते हुए कहा कि 'जो कुछ भी लिखो अर्थ समझ कर लिखना' गनेशजी ने स्वीकार कर लिया। महाभारत का लिखना आरम्भ हुआ और जहाँ कहीं व्यासजी को विचार करने की आवश्यकता होती, वे कूट रचनाओं द्वारा गणेशजी को सोचने के लिए विवश कर देते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण महाभारत गणेशजी को ही लिखना पड़ा।

'दृष्टिकूट' शब्द की विवेचना

इस प्रकार की रचनाएँ, जिनके शब्दों के साथ साधारण अर्थ भी रहता है परन्तु फिर भी सरलता से भाव-गम्य नहीं होता और जिनका अर्थ शब्दों की भूलभुलैयों में छिपा रहता है, वे 'कूट' कहलाते हैं। ऐसी रचनाएँ 'वाचक कूट' के नाम से श्रीमद् भागवत में प्रसिद्ध हैं। श्रीमद् भागवत में लिखा है—

उवाच चाथ हर्यश्वाः कथं स्रक्ष्यथ वै प्रजाः।
अदृष्ट्वान्तं भुवो यूयं बालिशा बत पालकाः॥
तथैकपुरुषं राष्ट्रं बिलं चादृष्टनिर्गमम्।
बहुरूपां स्त्रियं चापि पुमांसं पुंश्चलीपतिम्॥
नदीमुभयतोवाहां पंचपंचाद्भुतं गृहम्।
क्वचिद्धंसं चित्रकथं क्षौरपव्यं स्वयं भ्रमिम्॥
(६,५, ६–८)

तन्निशम्याथ हर्यश्वा औत्पत्तिकमनीषया।
वाचः कूटं तु देवर्षेः स्वयं विमम्रृशुर्धिया॥[2]
(६, ५,१०)

---

१ इसी प्रकार के कूटों की रचना के आधार पर ही व्यासजी की गर्वोक्ति है—

अष्टौश्लोकसहस्राणि, अष्टोश्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति, सञ्जयो वेत्ति वा नवा॥
(महाभारत, आदि पर्व १, ८०)

२ "हे हर्यश्वो! तुम प्रजापति हो तो क्या हुआ? वास्तव में तुम लोग मूर्ख हो।

उपरोक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रकार की रचनाएँ बुद्धि के लिए कसौटी थीं, जिन पर विद्वानों को भी विचार करना पड़ता था। और वे 'वाणीकूट' कहलाती थीं। किंतु यह 'वाणीकूट' का नाम 'दृष्टिकूट' कब बन गया यह अभी तक अज्ञात है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों का अर्थ एक ही है। जहाँ 'वाणीकूट' कवि के वाणी-गोपन से संबंध रखता है वहाँ 'दृष्टिकूट' पाठक या श्रोता की दृष्टि को छलने में सामर्थवान बन जाता है।

जहाँ 'दृष्टिकूट' का नाम आता है वहाँ हमारा ध्यान बरबस सूरदास के कूटों की ओर चला जाता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह देन सूरदास ही की है, किंतु यह भ्रामक है। कूट अतीत काल की संपत्ति है तथा वर्तमान काल में भी उसका उपयोग होता रहता है। परंतु 'दृष्टिकूट' शब्द संभवतः सूरदास के कूटों के लिए ही प्रयोग होता है।[१] कोई इसे दृष्टिकूट कहता है और कोई दृष्टकूट। हिन्दी शब्द-सागर ने दोनों रूपों को ही मान्यता दी है और उसका अर्थ किया है—"कोई ऐसी कविता जिसका अर्थ कविता के वाचकार्थ में न समझा जा सके बल्कि प्रसंग और रूढ़ि अर्थों में जाना जाय।" तब क्या दृष्टिकूटि और दृष्टकूट का एक ही तात्पर्य है?

दृष्टकूट शब्द दो शब्दों के योग से बना है जिसमें एक शब्द 'दृष्ट' तथा दूसरा 'कूट' है। 'दृष्ट' का अर्थ देखा हुआ, जाना हुआ, ज्ञात, प्रकट और लौकिक है। 'कूट' का अर्थ पहाड़ की चोटी, छल, मिथ्या, गूढ़ भेद इत्यादि

जब तुमने पृथ्वी का अन्त ही नहीं देखा तब सृष्टि कैसे करोगे? एक ऐसा देश है जिसमें एक ही पुरुष है। एक ऐसा बिल है जिसमें बाहर निकलने का रास्ता नहीं है। एक स्त्री है जो बहु रूपणी है। एक पुरुष ऐसा है जो कुलटा का पति है। एक नदी है जो दोनों ओर बहती है। एक ऐसा घर है जो पच्चीस पदार्थों का बना हुआ है। एक ऐसा हंस है जिसकी विचित्र कहानी है। एक ऐसा चक्र है जो धुरे और बज्र से बना हुआ है और अपने आप घूमता है।" (६—८)

"हर्यश्व जन्म से ही विद्वान थे। वे देवर्षि नारद के इन वाचक कूटों (शब्द कूटों) को सुनकर स्वयं ही विचार करने लगे।" (६, १०)

१ सूरदास के पूर्व इस प्रकार की रचनाओं के लिए विद्यापति की पदावली में प्रहेलिका शब्द का प्रयोग पाया जाता है, किंतु वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारी सम्मति से प्रहेलिका शब्द इतने व्यापक क्षेत्र को नहीं ढक सकता। सम्भव है इसीलिए सूरदास की इस भांति की रचनाओं का नाम दृष्टिकूट दे दिया हो। सब से पहले इस नाम का प्रयोग सरदार कवि कृत साहित्य लहरी (प्रकाशित सं० १८९२ वि०) में दिखाई पड़ता है और उसके पश्चात इस शब्द का व्यापक प्रचार हो गया।

होता है। इस प्रकार दृष्टकूट का अर्थ 'देखा हुआ पहाड़' अथवा 'ज्ञात धोखा' इत्यादि होता है। 'दृष्टि' शब्द का अर्थ देखने की वृत्ति या शक्ति है। 'दृष्टिकूट' शब्द का अर्थ—दृष्टि को छलनेवाला अथवा दृष्टि के आगे पहाड़ हो जाता है। इस प्रकार 'दृष्टिकूट' शब्द की अपेक्षा दृष्टिकूट ही अर्थ और भाव की दृष्टि से अधिक समीप आ जाता है और हमारे विचार से यही ठीक है। भावार्थ के लिए हम 'दृष्टिकूट' शब्द का अर्थ 'तिल की ओट पहाड़' कर सकते हैं। जहाँ तनिक सा तिल आँखों के आगे हट जाने से कूट-विस्तार आपको भलीभाँति गोचर हो जायगा।

दृष्टिकूट की परम्परा

दृष्टिकूट का इतिहास मानव के मानसिक विकास का इतिहास है, जब कि वह मनोविनोद अथवा ज्ञान-परीक्षा के रूप में एक दूसरे से पहेली पूछा करता रहा होगा और जिसका लिखित इतिहास लिपि और पट्ट-लिपि के अभाव में अदृष्ट के गर्भ में पड़ा हुआ है और पड़ा रहेगा। किंतु जैसे ही हमें लिखित रूप में आर्यों के प्रथम वेद ऋग्वेद का दर्शन होता है, वैसे ही हमको इन कूटों का भी शैशव रूप दिखाई पड़ता है, जहाँ संसार की रूप रेखा में इसका उपयोग किया गया है—

अबुध्ने राजावरुणोवनस्योर्ध्वंस्तूयंददतते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थरुपरिबुध्नऽएषामस्मेऽअंतर्निहिताः केतवः स्युः[1] ॥

(ऋग्वेद, १, २४, ७)

इसके पश्चात् उपनिषदों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। कठोपनिषद् में लिखा है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थ- सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते[2] ॥ (कठोप० ६, १)

---

१ "वरुण लोक में एक ऐसा वृक्ष है जिसके किरणों की जड़ें ऊपर हैं तथा जिसकी किरणें ऊपर से नीचे फैलती हैं।"

२ इसी भावना के अनुरूप श्रीमद्भगवत् गीता में इसी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस श्लोक का पूर्ण भाव निम्न श्लोक में आ जाता है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तंवेद स वेदवित्॥ (गीता १५, १)

अर्थात् "जिसकी जड़ें ऊपर हैं (अर्थात् परमेश्वर ही जिसका मूल रूप है) अधः (नीचे)

मुण्डकोपनिषद् में भी इसी संसार रूपी वृक्ष का वर्णन निम्न रीति से कूट रूप में मिलता है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥१

(३,१,१)

किंतु वेद और उपनिषद काल में जो कूटों का रूप दिखाई पड़ता है वह एक देशीय है, अर्थात् उसमें जो कूटों की रूप-रेखा दिखाई पड़ती है वह ब्रह्म, जीव और संसार की परिधि में ही बँधी हुई है। इसका वास्तविक विकास तो महाभारत में ही दिखाई पड़ता है, जहाँ व्यासजी ने शब्द ब्रह्म को हस्तामलकवत् ग्रहण करके जहाँ चाहा वहीं अर्थ को अँधकार में फेंक दिया है। वहाँ काव्यार्थ को पृष्ठ भाग[२] की भाँति नहीं, भागे हुए चोर की भाँति पकड़ कर लाना पड़ता

(शाखा अर्थात् सृष्टि के विस्तार रूप से जो कारण है वही उसकी शाखा रूप ब्रह्म है), इस पीपल के वृक्ष को अविनासी कहते हैं, क्योंकि अविनाशी ही इसका कारण है तथा अनादि काल से इसकी परंपरा चली आती है, वेद जिसमें पत्ते हैं, उसको जानने वाला ही वेद को जाननेवाला है।"

१. "दो पक्षी (जीव और ईश्वर) जो सयुजा (नियम्य—नियामक भाव से सहयोगी हैं) सखाया (चैतन्य रूप होने से तुल्य स्वभाव के) एक ही वृक्ष (देह अथवा संसार) पर बैठे हैं। उनमें से एक (जीव) स्वादिष्ट पिप्पल का भक्षण करता है (कर्मफल को भोगता है) और दूसरा (ईश्वर) कुछ न भक्षण कर (कर्मफलों को न भोगकर) प्रकाशवान् रहता है।"

२. ग्वाल कवि ने अर्थ को काव्य का पृष्ठ भाग माना है साहित्यानंद में उन्होंने लिखा है—

सब्द अर्थ देह सब्द अग्र भाग सोह्यित,
अर्थ जे समर्थ प्रष्ठ भाग पहचानिऐं।
अतिसै ब्यंग तासौं कहति धुनि सोई जीभ,
जुक्त जे बिलच्छन ते बसन प्रमानिऐं।
'ग्वाल कवि' ओजादिक तीनौं गुन गुनियत,
भूषन से भूषन सो भूषित बखानिऐं।
रोग के समान सब दूषन सुजान जान,
ए हो गुनखान ऐसौ काव्य रूप जानिऐं ॥

है। अज्ञातवास-प्रकरण में बृहन्नला-वेशधारी अर्जुन को देखकर भीष्म ने द्रोण से पूछा कि रथ में कौन आ रहा है? इसके उत्तर में द्रोणाचार्य कहते हैं—

नदीज लङ्केशवनारिकेतो नगाह्वयं नाम नगारि सूनुः।
एषोऽङ्गना वेशधरः किरीटिः जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गावः[1] ॥

इसी प्रकार महाभारत के कर्णपर्व में दूसरे प्रकार का कूट दिखाई पड़ता है। कर्ण ने अपना सर्प रूपी बाण अर्जुन पर छोड़ा। उसी समय अर्जुन लगाम तक झुक गया। 'गो' शब्द की अनेकार्थ शक्ति को लेकर इस कूट श्लोक की रचना की है—

गोकर्णः सुमुखी कृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता,
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सु व्यक्त गोपुप्रभम्।
द्रष्ट्वा गो गतकं जहार मुकटं गोशब्द गोपूरिवै,
गोकर्णासन मर्दयञ्च न यथा वा प्राप्य मृत्योर्वशम्[2]।

इसके पश्चात् श्रीमद्भागवत में भी कूटों की कमी नहीं है, जो भिन्न-भिन्न प्रकार से रचे गये हैं। मुंडकोपनिषद् के कूट की छाया निम्न कूट में भली-भाँति दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न कूट के दोनों श्लोक उसी कूट को देख कर रचे गये हैं—

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृत नीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥

---

१. नदीज—नदी से जन्म है जिसका, भीष्म। लङ्केश—केतो—लंकेश रावण उसका वनारि केतो [अशोक वन को केतु रूप] हनुमान, जिसकी ध्वजा में है, ऐसा अर्जुन। नगाह्वयं-नाम—हस्ति या अर्जुन के पेड़ से संबधित। नगारिसूनुः—नग पहाड़ उसका शत्रु इंद्र, उसका सूनु, पुत्र, इंद्र का पुत्र। ऐषो...वेषधरः—यह स्त्री वेशधारी। किरीटिः—अर्जुन। जित्वा......गावः—हमको जीतकर गायों को ले जायगा।

"हे भीष्म! यह कपिध्वज, अर्जुन वृक्ष अथवा हस्तिनापुर से संबंधित इंद्रपुत्र, नारि वेषधारी अर्जुन है जो हमको जीतकर गायों को ले जायगा।

२. गोकर्णः—चक्षुश्रवा, सूर्य। गोपुत्र—सूर्यपुत्र कर्ण। गोशब्दात्मज—इंद्र। गोपुप्रभम्-अति तेजस्वी। गोगतकं—लगाम तक झुका हुआ। गोशब्द—सूर्य। गो शरि—किरणें।
"कर्ण द्वारा छोड़े गये सर्परूपी बाण ने लगाम तक झुके हुए (अर्जुन के) सूर्य-किरणों सदृश देदीप्य मान मुकुट को काट दिया, किंतु उसकी मृत्यु उस सर्पयुक्त बाण से न हुई और वह बच गया।"

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वान पिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्य बद्धो विद्यामयो यः स तु नित्य मुक्तः ।। १
(भागवत ११, ११, ६-७)

एक अन्य स्थान पर—
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ।। २
(भागवत १०, २, २६)

पुनः—
एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधिः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादि वृक्षः ।। ३
(भागवत १०, २, २७)

इस प्रकार इन कूटों का रूप धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु उन संस्कृत साहित्यकारों की रचनाओं में भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिन्होंने महाभारत,

---

१. "(शरीर) एक वृक्ष है जिसके घोंसले में दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों समान हैं, सखा हैं, केवल इच्छा से ही नीड़ में निवास करते हैं। एक तो उसमें से पीपल को खाता है और दूसरा बिना खाये रहता है।"

२. "आप सत्य संकल्प हैं, सत्य ही आपकी प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। सृष्टि के पूर्व, प्रलय के पश्चात् और संसार की स्थिति के समय—इन सभी अवस्थाओं में आप सत्य हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच दृश्यमान सत्यों के कारण आप ही हैं और उनमें अंतर्यामी विराजमान भी हैं। आप इस दृश्यमान जगत के परमार्थ रूप हैं। आप मधुर वाणी और समदर्शन के प्रवंतक हैं। भगवान आप तो बस सत्यरूप ही हैं। हम सब आपकी शरण में आये हैं।

३. "(यह संसार वृक्ष क्या है ?) इस वृक्ष का एक आश्रय है (प्रकृति), दो फल हैं (सुख और दुख), तीन जड़ें हैं (सत, रज, तम), चार रस (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) पाँच प्रकार का है (श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका), छह स्वभाव हैं (उत्पत्ति, स्थिति, उन्नति, वदलना, धरना और नष्ट होना), सात त्वचा हैं (सात धातुएं—रस, रुधिर मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र), आठ शाखाएं हैं (पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार), नौ खौडर हैं (१ मुख, २ नासिका छिद्र, २ नेत्र, २ कर्ण, पायू और मूतेन्द्रिय) दस पत्ते हैं (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, भाग, कर्म, कमल, देवदत्त, और धनंजय) इस वृक्ष पर दो पक्षी हैं (जीव और ईश्वर)।

भागवत आदि ग्रंथों का अनुसरण करके अपने काव्य लिखे। माघ और हर्ष इसके अपवाद नहीं हैं। कालिदास ने तो अपने विश्व-विख्यात नाटक 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का आरंभ ही कूट से किया है—

या सृष्टिस्स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
या माहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ १

समय व्यतीत होता है। प्राकृत संस्कृत से सम्बन्ध विच्छेद करती हुई अपभ्रंशों के रूप में परिवर्तित होकर हिन्दी के रूप में दिखाई पड़ने लगती है। उधर देश की राजनैतिक दशा भी शीघ्रता से बदलने लगती है। देश पर यवनों के आक्रमण जल्दी-जल्दी होने लगते हैं, जिससे देश की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था लड़खड़ाने लगती है। उस समय देश को मानसिक भोजन की उतनी आवश्यकता नहीं रह जाती जितनी शारीरिक भोजन, बल और स्फूर्ति की। कवि का ध्यान मानसिक गुत्थी उलझाने के स्थान पर देश पर पड़ी हुई विषम परिस्थिति की गुत्थी सुलझाने में लग जाता है। उसकी रचनाएँ आक्रमणकारियों के विरुद्ध देश के युवकों में बल भर कर देश-रक्षा की प्रेरणा देने लगती हैं और तभी वीरगाथा-काल का आरम्भ होता है, जब कि चारण-कवियों की रचनाओं में अपने आश्रयदाता के वीरोचित कार्यों का अत्युक्ति पूर्ण वर्णन मिलता है। उस समय यह 'दृष्टिकूट-साहित्य' महत्व हीन हो जाता है, क्योंकि उस समय गूढ़ भेद विषयक कविताओं का मनन कर अर्थ समझना एक सिर दर्द की चीज दिखाई पड़ती थी। उस समय तो इनको ऐसी कविताओं की आवश्यकता थी जिनको सुनते ही शत्रु पर आक्रमण करके उसके विनाश के हेतु कटिबद्ध हो जायँ। अस्तु इस काल में दृष्टिकूट की रचनाएँ किन्ही भी ग्रन्थों

---

१. "जो ब्रह्मा की आदि सृष्टि है (जल), जो विधि पूर्वक हवन की हुई वस्तु को ग्रहण करता है (अग्नि), जो हवि को हवन करने वाला होत्री है (यजमान), जो ज्योति दो कालों को विभक्त करती है (सूर्य और चन्द्र), जिसका विषय श्रुति तथा विश्व में व्यापक है (आकाश), जिसको सब बीजों की प्रकृति माना गया है (पृथ्वी), और जिसके द्वारा प्राणी प्राणवान हैं (वायु), ऐसी प्रत्यक्ष (जल, अग्नि, यजमान सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु) अष्ट मूर्तियों द्वारा ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें।

में नहीं मिलती। सम्भव है लोक-साहित्य में उनका सृजन होता रहा हो और वह समय व्यतीत होते-होते काल के गाल में चली गई हों, अथवा उनका रूप परिवर्तित होकर जनता का मनोरंजन करती रही हों। इस बात की पुष्टि इस बात से होती है कि सं० १२७२ में नरपति नाल्ह ने 'बीसल देव रासो' लिखा उसमें इसकी एक झलक दिखाई पड़ती है। मंगलाचरण में ही कवि लिखता है—

हंस वाहिणी मृग लोचन नारि,
सीस सँवारहि दिन गिणइ।
जिन सिरजउ उलगण धर नारि,
जाइ जुहारूँ झूरिताम्।

समय अपने पंख फड़फड़ाकर फिर आगे बढ़ा और तब वह ऐसे स्थान पर आया जहाँ भारत पराधीन हो जाता है। दिल्ली के शासक अब हिन्दू नहीं अपितु मुसलमान थे, जिनकी संस्कृति हिंदुओं से सर्वथा भिन्न थी, जिनके धार्मिक विश्वास हिंदुओं से अलग थे। जो तलवार की शक्ति से ही धर्म का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझते थे। हिंदुओं के मंदिरों की देव प्रतिमाएँ तोड़ कर मंदिर, मस्जिद बना दिए जाते थे। यज्ञ और हवन वर्जित थे। ऐसे समय में सबको भगवान का ही सहारा दिखाई पड़ता है और सब लोग उसी की शरण में जाते हैं। उनको विश्वास है कि जब-जब पृथ्वी पर पाप कर्मों की वृद्धि होकर अनाचार बढ़ जाता है, तब-तब भगवान अवतार लेकर असुरों का संहार करते हैं। इसी आधार को लेकर यज्ञ और हवनों का निषेध करते हुए गीता में वर्णित नवधा भक्ति का प्रचार करते हैं। इसमें भी भजन-कीर्तन को मुख्य स्थान मिलता है—

सतजुग सत, त्रेता तप कीजै, द्वापर पूजा चारु।
सूर भजन कलि केवल कीजै, लज्जा कान निवारु॥

और फिर एक बार संस्कृत साहित्य का (विशेषतः धार्मिक ग्रन्थों का) मनन और मंथन आरंभ हो जाता है। जनता को जनता की बोली में समझाने के लिए रामायण; भागवत आदि ग्रंथों के अनुवाद तथा उन्हीं के आधार पर मौलिक रचनाएँ रचकर लोग जनता के सामने आते हैं और उसका यथेष्ट प्रचार होने लगता है। उसी समय दृष्टिकूटों पर भी लोगों की दृष्टि जाती है। श्रीमद्भागवत अथवा महाभारत के कूटों का कूट रूप में किसी कवि ने अनुवाद किया हो ऐसा तो हमारे देखने में आया ही नहीं, किंतु उन कूटों की छाया लेकर अथवा

उस प्रणाली का अनुसरण करके लोगों ने रचनाएँ की, यह भी बहुत ही कम मिलता है, क्योंकि इस प्रकार की रचनाओं के लिए जहाँ अगाध शब्द-भंडार की आवश्यकता होती है वहाँ उनका जोड़-तोड़ बैठा देना भी साधारण और सरल कार्य नहीं है। कोई विरला प्रतिभाशाली व्यक्ति ही इस कार्य को कर सकता है। हिंदी में इस दिशा में सबसे प्रथम 'विद्यापति' मैथिल कोकिल ने सफल प्रयास किया। उनका एक पद है—

साजनि अकथ कहि न जाए।
अबल अरुण ससिक मंडल, भीतर रह नुकाए॥
कदलि ऊपर केसरि देखल, केसर मेरु चढ़ला।
ताहि ऊपर निसाकर देखल, किर ता ऊपर बइसला॥
कीर ऊपर कुरंगिनि देखल, चकित भमए जनी।
कीर कुरंगिनि ऊपर देखल, भमर ऊपर मनी॥
एक असम्भव आओ देखल, जल बिना अरबिंदा।
बेवि सरोरुह ऊपर देखल, जैसन दूतिय चंदा॥
भन विद्यापति अकथ कथाई, रस केओ केओ जान।
राजा सिवसिंह रूप नरायन, लखिमा देवि रमान॥[1]

(विद्यापति पदावली ६४-१८३)

एक अन्य स्थान पर

माधव कि कहब सुंदरि रूपे।
× × ×
सारँग नयन बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समुदाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग, केलि करचि मधुपाने॥[2]

(विद्यापति पदावली १०, १७)

---

१. ससिक मंडल = चंद्र-मंडल। कदलि = केला के खंभ रूपी जंघाएं। केसरि = सिंह सम कटि। मेरु = पहाड़, कुच रूपी पहाड़। निसाकर = चन्द्रमा, मुख चंद्र। किर = कीर, तोता रूपी नासिका। बइसला = बैठा हुआ है। कुरंगनि...जती = चकित होती हुई घूमती देखो अर्थात् चंचल नेत्र देखे। जल...अरविंदा = बिना पानी के कमल अर्थात् हस्त कमल। भमर = भ्रमर जैसे केश। मनी = मणि, शीश फूल। बेवि = दोनों। सरोरुह = कमल जैसे नेत्र। दूतिय चन्दा = द्वैज का चन्द्रमा अर्थात् ललाट।

२. सारंग = हरिण, कोयल, कामदेव।

उपर्युक्त दो पदों में प्रथम में रूपकातिशयोक्ति द्वारा तथा दूसरे में यमक द्वारा कूट की रचना की गई है। विद्यापति पदावली में और किसी प्रकार से रचना किये हुए कूट नहीं मिलते हैं। यद्यपि इस प्रकार के कूटों की रचना भी 'विद्यापति पदावली' में बहुत सीमित है, फिर भी उसको इस बात का बिंदु तो कह ही सकते हैं कि लोगों में इस प्रकार की रचनाओं के प्रति सम्मान हो गया था। चंडीदास ने जो विद्यापति के समसामयिक थे इस प्रणाली को नहीं अपनाया। उनके प्रेम की पीर प्रकट करने का मार्ग अलग ही था, उनके हृदय की कोमल भावनाएँ सरस और सरल शब्दों में ग्रंथित होकर पदों के रूप में अवतरित हुई हैं। जयदेव की कोमल-कांत-पदावली भी इसी भाँति इस प्रणाली के अनुकूल नहीं है। व्रज के भक्त कवि हितहरवंश, स्वामी हरिदास, व्यासजी, नंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी आदि ने भी कोई कूट नहीं लिखे। परमानंददास का केवल एक कूट मिलता है—

ऊधौ जू, मन की मनें रही।
पंच मुख, दृग आठ जाके, द्वादस चरन मही॥
आठ नारी, द्वै भरतारी, जुगल पुरुष इक नारि गही।
चारि वेद, दुहि चलौ साँवरौ, नैनन सैन दही॥
'परमानंददास' के प्रभु पै यौं पीवत है मही॥[१]

यह पद वल्लभ-सम्प्रदाय के कितने ही कीर्तनियाओं को याद हैं, परंतु यह किसी कीर्तन-संग्रह में नहीं मिलता। यह बहुत साधारण कोटि का है, जिसमें गोपियों द्वारा स्मृति रूप में श्रीराधाकृष्ण के साथ बछड़ा सहित गाय दोहन का वर्णन है। पद में कवित्व का अभाव है तथा हम इसे एक छोटी-मोटी प्रहेलिका का रूपांतर ही कह सकते हैं। हमें संदेह है कि यह रचना परमानंददास की है, परंतु वल्लभ-संप्रदाय में प्रसिद्ध होने के कारण हमने इसे यहाँ दे दिया है।

---

१. "हे उद्धव! हमारे तो मन की मन में रह गई। (हमें एक समय की याद है जब श्रीकृष्ण राधा सहित गाय दुह रहे थे और बछड़ा पास खड़ा था। उस समय का दृश्य कैसा था?) पाँच मुख थे (दो राधा-कृष्ण के, दो गाय बछड़े के, और एक मथानी का मुख), आठ नेत्र थे, बारह चरण थे, अँगुली रूपी बारह नारियाँ और पति रूपी दो अंगूठे (गाय के थनों से दूध निकाल रहे थे), दो पुरुष घुट्ठओं ने एक मथानी रूपी नारि को पकड़ रखा था। चारों थनों का दूध दुह कर (और राधा को) नेत्रों से संकेत करके श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिये।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस परिपाटी पर कुछ नहीं के बराबर ही लिखा है। इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी इस प्रणाली से अनिभिज्ञ थे अथवा इस प्रकार की काव्य-रचना की उनमें प्रतिमा नहीं थी, वरन यह निश्चय है कि उन्होंने जिस संदेश को घर-घर पहुँचाने का विचार किया था, उसके यह अनुकुल नहीं थी। जनता सरल और सीधी भाषा में रची गई कविता को जितनी आसानी से सुन-समझ सकती है, उतनी इस प्रकार की दृष्टि कूट रचनाओं को नहीं। फिर भी जहाँ कठिन काव्य का विषय आया है वहाँ उन्होंने लंबे-लंबे समासों की कविता की है और वे दृष्टिकूट के रूप को भी जनता के सामने लाने में पूर्ण समर्थ हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी विनय-पत्रिका में लिखा है—

केसव, कहि न जाय कहा कहिऐ।
देखत तव रचना विचित्र अति, समझि मनहिँ मन रहिऐ ॥१॥
सून-भीत पर चित्र रंग नहिँ, तन बिनु लिखा चितेरे।
धोएँ मिटै, न मरै भीति-दुख, पाइय इहि तनु हेरे ॥२॥
रविकर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तिहिं माँहीं।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाँहीं ॥३॥
कोउ कहै सत्य, झूठ कहै कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानैं।
'तुलसीदास' परिहरै तीन भ्रम, सो आपुन पहचानैं ॥४॥

श्रीवियोगी हरि ने इसकी टीका इस भाँति की है—

"हे केशव! कुछ कहने का नहीं क्या कहूँ? आपकी इस अद्‌भुत रचना को देखकर मन ही मन समझ कर रह जाता हूँ। कुछ वर्णन करते नहीं बनता। १॥ (अब सृष्टि वैचित्र्य बताते हैं—) किसी निराकार चित्रकार ने बिना रंग के चित्र बनाये हैं। भाव यह है कि आदि कर्ता निराकार, परमात्मा ने माया रूपी दीवार पर अथवा अंतरिक्ष (आकाश) पर जो शून्य भास रहा है ऐसे-ऐसे चित्र खींचे हैं जिनमें रंग का लेश नहीं, अर्थात् प्रकृति के शून्याधार असत् के आश्रय पर पाँच भौतिक रचना का प्रसार किया है और इस रचना में स्थूल कारण सूक्ष्म आदि शरीर है जिनका कोई रंग, कोई रूप निश्चित नहीं होता, अतः बिना रंग के हैं। चित्रकारी प्रायः धोने से मिट जाती है, पर इस निराधार चित्रकार के चित्र धोने से भी नहीं मिटते, अर्थात् कर्मादि करने से यह पाँच भौतिक रचना नाश को प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत और भी पक्की होती जाती है। जड़

चित्रकारी को मरने का भय नहीं हुआ करता, पर इन चित्रों को सदा मृत्यु-भय बना रहता है। एक और उल्टी बात है। वह यह कि इन चित्रों की ओर देखने से दुख होता है। भाव यह कि इस सृष्टि में मोह-ममता-जन्य भय सदा बना रहता है। पाँचों विषय रूपी पिशाच डरपाते रहते हैं और मन को जो दारुण दुख होता है वह किसी से छिपा नहीं, इसलिए इन चित्रों की ओर देखना महा भय पूर्ण और दुखदाई है। २॥ सूर्य की किरणों में, ग्रीष्म ऋतु में जो जल की लहरें सी दिखाई पड़ती हैं उनमें एक मगर रहता है। यद्यपि उसके मुख नहीं है, पर जो भी वहाँ पानी पीने को जाता है, चाहे वह जड़ हो या चैतन्य उसे वह निगल जाता है। भाव यह है कि यह संसार मृग-जल के समान भ्रममय है जैसे सूर्य की किरणों को जल समझकर मृग प्यास के मारे दौड़े चले आते हैं पर वहाँ क्या रखा है। वे जितना भी भागेंगे उतनी ही दूर जल दिखाई देगा। अंत में छटपटा कर मर जाते हैं। इसी प्रकार इस अविद्या-जन्य मिथ्या संसार के विषयों में भी जो सुख ढूढ़ना चाहते हैं। पुत्र-कलत्र, धन-संपत्ति से अपनी विषय-पियास बुझाना चाहते हैं, उन्हें मिलता तो कुछ नहीं, पर हाँ उस प्रवृति में फँसे रहने के कारण एक दिन बिना मुखवाला मगर, अर्थात् अव्यक्त काल उसे खा जाता है। चित्रशाला पर मुग्ध हो जाने का फल यह है। विचित्रता भी अनिवार्य है। ३॥ कोई तो इस रचना को सत्य कहते हैं और कोई मिथ्या। किसी-किसी के मत से यह सत्य और मिथ्या दोनों का मिश्रण है, अर्थात् अद्वैत-वादी वेदांती इस जगत को मिथ्या अथवा भ्रम मात्र कहते हैं। वे ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और उसी में रज्जु-सर्पवत् जगत का भास मानते हैं। मनु, दक्ष, यागवलक्य, वशिष्ठ आदि इसी सिद्धांत के प्रतिपादक थे। एक और पक्ष है, वह जगत् को सत् और असत् दोनों ही मानता है, यह मत पतंजलि आदि योग-शास्त्रियों का है। इसी मत को निंबार्काचार्य ने भी स्वीकृत किया है। अस्तु यह तीन सिद्धांत हैं, किंतु तुलसीदास कहते हैं कि यह तीनों ही भ्रम हैं। कर्म, योग, और ज्ञान [1] इन सबकी शक्ति कलियुग में नष्ट हो गई है। इन तीनों को छोड़कर जो भगवान की शरण गहेगा वही आत्मा का वास्तविक रूप पहिचान सकेगा।"

१, कर्म, जोग पुनि ग्यान उपासन सब ही भ्रम भरमायौ।
श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायौ॥ (सूरसारावलि)

किंतु यह प्रणाली सूरदास से आगे चलकर न पनप सकी। इसका कारण है, अर्थों की दुरूहता के कारण, श्रोता में धैर्य का अभाव। भक्ति मार्ग में जहाँ इस प्रकार की रचनाओं से उनमें जागरुकता उत्पन्न होती थी और वह एक मुमुक्षु की भाँति उस धार्मिक जिज्ञासा की तृप्ति कर अपने को परम धन्य समझते थे, वहाँ तुरंत ही फल दान चाहनेवाले व्यक्ति को उसकी तृप्ति का इस प्रकार की रचनाओं में कोई साधन नहीं था। फिर भी कतिपय कवियों ने उनके अनुसरण की चेष्टा की, किंतु वे नितान्त असफल रहे। यही कारण है कि दृष्टिकूट की रचनाएँ सूरदास के नाम से ही प्रसिद्ध रह गईं। उन्नीसवी शताब्दी में महाराज श्रीप्रतापसिंहजी के आश्रित चारण कवि सागाजी ने निम्नलिखित पद लिखा—

हरि बिनु एते दुख सजनी री।

जग के दृग[1] उड़गन पति[2] ग्रहन जु, ता सम बीतत अहि रजनी री॥
मकरकेतु के बिसिख[3] दून रथ, ता नंदन को कटक कहाही।
वाकौ नाम उलटि करि दैरी जाकौ असहसन सब्द सुना ही॥

(ब्रजनिधि ग्रन्थावलि)

यह दृष्टिकूट का पद है, परंतु इसमें भी कवित्व का नितांत अभाव ही है। 'पिक' शब्द की योजना में दो चरण घेर कर भी कवि अपनी नायिका के पूर्ण दुःख को व्यक्त करने में असफल रहा है।

वर्तमान काल के स्वर्गीय कविरत्न नवनीतजी ने भी 'अद्भुत एकअनूपम-बाग' के आधार पर रचना की है—

कंजन पै कदली कपूर भरी तापै ताल,
तालन पै तरुन सिंघ सोभित सचित है।
'नवनीत' सिंघ पै सरोवर त्रबलि तीर,
तापै चक्रवाक-जोट जौहर जटित है॥
चारु चक्रवाकन पै कलित कपोत एक,
पंकज सनाल द्वै रसाल सरसत है।
घन में बिज्जु, बिज्जु, ऊपर सफरि-चंद,
चंद पै राहु तापै सूरज नचत है॥

---

१ सूर्य। २ चन्द्रमा। ३ मकरकेतु के बाण पाँच-दूने दस, और रथ मिलने से हुआ दसरथ, दसरथ का नन्दन राम उनका कटक कपि उल्टा पिक, कोयल सो असहनीय शब्द सुना रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह कूट-परम्परा वैदिककाल से चली आकर अभी तक किसी न किसी रूप में मिलती है। परंतु इसका वर्गीकरण अभी तक नहीं हुआ। जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने इसे चित्रालंकार के अंतर्गत माना है तथा इसकी गणना अधम काव्य में की है। लाला भगवानदीन 'दीन' ने दृष्टिकूट को एक अलग अलंकार माना है। परंतु वास्तव में दृष्टिकूट अलंकार इससे कुछ भिन्न महत्व रखता है। अलंकार-प्रणाली जहाँ शब्द और अर्थ के रूप को विकसित कर एक नवीन सौंदर्य प्रदान करती है, वहाँ दृष्टिकूट-काव्य के अर्थों में एक बिंदुमात्र छलना उत्पन्न कर उसकी वास्तविक सुन्दरता को ढक देते हैं और उसके अवगुंठन खुलने पर जो सौन्दर्य बिखर पड़ता है वह अनिर्वचनीय है। यह बात दूसरी है कि आजकल प्रचलित अलंकारों में से कुछ अलंकार दृष्टिकूट के अर्थ-गोपन में सहायता प्रदान करते हैं, अथवा ये कहिये कि वे अलंकार हमारे दृष्टिकोण से दृष्टिकूट के अंतर्गत आ जाने चाहिये, परंतु फिर भी कितने ही कूटों की रचना ऐसी होती है जिसमें शब्दालंकार अथवा अर्थालंकारों का कुछ भी सहयोग नहीं होता और उनमें गूढ़ रहस्य छिपा रहता है।

सरदार कवि ने 'साहित्य-लहरी' की टीका करते हुए कूटों के वर्गीकरण का प्रयास किया है। उन्होंने दो भाँति के कूटों का उल्लेख किया है—

(१) दो मिल द्वावरन कूट और (२) वारावर्त कूट।

'दो मिल द्वावरन' कूट के उदाहरण में निम्न पदों को दिया है—

(१) ब्रज में आज एक कुमारि। (पद सं० ८७)

(२) पिय-बिन बहति बैरिन बाइ। (पद सं० ८८)

तथा 'वारावर्त कूट' का निम्न उदाहरण माना है—

बालम बिलम बिदेस रह्यौ री। (पद सं० ८९)

किंतु उपरोक्त 'दो मिल द्वावरन कूट' तथा 'वारावर्त कूट' क्या हैं, अथवा क्यों हैं, इसका पता उनकी पुस्तक में भी नहीं लगता। सरदार कवि ने साहित्य-लहरी की टीका करते हुए जहाँ अलंकारों का उल्लेख किया है, वहाँ उनके लक्षण भी दिये हैं, किन्तु इन दोनों कूटों का नाम निर्देश करते हुए भी इनकी परिभाषा का कहीं भी पता नहीं चलता। इससे हम इस वर्गीकरण को पहिचानने में सर्वथा असमर्थ हैं। हमारी समझ में दृष्टिकूट के तीन भेद होते हैं —

(१) कथात्मक (२) अलंकारिक और (३) ध्वनिपरिवर्तक।

(१) कथात्मक-दृष्टिकूट

जब कि किसी पौराणिक कथा अथवा रूढ़िवाद लौकिक ज्ञान को लेकर कूटों की रचना की जाती है उनकी 'कथात्मक कूट' संज्ञा है। इस प्रकार कथात्मक कूट के दो भेद हो जाते हैं।

(१) पौराणिक और (२) लौकिक

(१) पौराणिक कथात्मक कूट वे कूट हैं जो किसी पौराणिक कथा के पात्र को लेकर उसका संबंध अन्य पौराणिक पात्र से स्थापित कर अपनी मनचाही बात कही जाय। उदाहरणार्थ —

मेरु–सुता-पति बसत जु माथैं, कोटि प्रकास रिसाय गयौ री॥

*

मारुत-सुत-पति-अरि-पुर-बासी, पितु-बाहन भोजन न सुहाई।
हरि-सुत-बाहन-असन सनेही, मानहुँ अनल देह दौ लाई।
उदधि-सुता-पति ताकर बाहन ता बाहन कैसैं समुझावै।
सूर स्याम मिलि धर्म-सुवन-रिपु ता अवतारहि सलिल बहावै॥

(पद सं. ५१)

इस पद के सभी नाम पौराणिक कथाओं से संबंध रखते हैं। इस प्रकार के अर्थ-ज्ञान के लिए पौराणिक कथाओं का ज्ञान होना आवश्यक है। सूरदास ने जहाँ इस प्रकार की रचनाएँ की हैं उसमें श्रीमद्भागवत के पात्रों का सबसे अधिक उल्लेख है, उससे कम महाभारत का और फिर अन्य पुराणों का।

(२) लौकिक कथात्मक कूट वे हैं, जिनकी प्रचलित लोक कथाओं के आधार पर अथवा ज्ञान पर रचना की जाती है। यथा—

१. प्रीत कर काहू सुख न लह्यौ।
प्रीत पतंग करी दीपक सौं, आपै प्रान दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीत करी जल-सुत सौं, संपुट माँझ गह्यौ।
सारँग प्रीत करी जु नाद सौं, सनमुख बान सह्यौ॥

(पद सं० ५७)

२. ससि–रिपु बरष, सूर–रिपु जुगबर, हरि-रिपु कीने घात।

(पद सं० ७०)

३. जल-सुत-सुत-ताकौ रिपु-पति-सुत, घेरि लई सखि है कित ध्याऊँ।
(पद सं० ७५)

(२) अलंकारिक दृष्टिकूट

हम पहिले बता चुके हैं कि दृष्टिकूट का संबंध अर्थ गोपन से रहता है। अलंकार शास्त्र में कुछ ऐसे अलंकारों का भी वर्णन आता है, जिनका संबंध भी अर्थ गोपन से ही है। उसमें कुछ शब्दालंकार हैं और कुछ अर्थालंकार। तब उनको क्या समझा जाय ? दृष्टिकूट अथवा अलंकार। हमारी समझ में वे अलंकार, जो अर्थ-गोपन की क्षमता रखते हैं, दृष्टिकूट के अंतर्गत मान लेने चाहिये। जिस प्रकार श्लेषालंकार शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष दोनों प्रकार का होता है, उसी प्रकार दृष्टिकूट के भी दो भेद हो सकते हैं। (१) शब्दालंकार तथा (२) दूसरा अर्थालंकार से संबंधित—अर्थात् शाब्दी अलंकारिक दृष्टिकूट और आर्थी अलंकारिक दृष्टिकूट।

शाब्दी अलंकारिक दृष्टिकूट की गणना उन कूटों की है, जिनमें शब्दालंकारों ने अर्थ-गोपन में सहायता दी है। इनमें (१) यमक (२) प्रहेलिका और (३) बहिर्लापिका मुख्य हैं।

(१) **यमक**—जहाँ एक शब्द की आवृति अनेक बार हो तथा उनमें अर्थ-गुप्त रहने की क्षमता हो, तभी वह यमक अलंकार दृष्टिकूट की श्रेणी में आयेगा, अर्थात् सार्थक पदों-द्वारा बना हुआ यमक ही (जहाँ आवृति दो बार से अधिक हो) दृष्टिकूट यमक होगा, निरर्थक अथवा निरर्थक-सार्थक पदों की आवृति-वाला यमक नहीं। यथा—

(१) **पद्मिनी सारँग एक मँझारि।**
आपहिं सारँग नाम कहावै, सारँग बरनी बारि॥
(पद सं. २४)

(२) **सारँग, सारँगधरहिं मिलावहु।**
सारँग बिनय करत, सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु॥
(पद सं. २२)

(३) **हरि मोकों हरि-भष, कहि जु गयौ।**
हरि प्रघटत, हरि उदित मुदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ॥
(पद सं. ६३)

इनमें पहले दो उदाहरणों में 'सारंग' शब्द की तथा तीसरे में हरि शब्द की आवृति अनेक बार हुई है। इन दोनों शब्दों की अनेकार्थ शक्ति काव्य के अर्थ-गोपन की पूरी क्षमता रखती है, इसलिए यह यमक द्वारा दृष्टिकूट का वर्णन माना जायगा।

एक पद की अनेक बार आवृति होने से आवृति दीपक अलंकार होगा, क्योंकि उसमें अर्थ-गोपन की क्षमता नहीं होती, अपितु अपने शब्द-सौन्दर्य से ही काव्य को आभूषित कर देता है, इस लिए उसकी गणना दृष्टिकूट की श्रेणी में नहीं हो सकती। अश्वघोष कृत 'सौन्दरानन्द' से इसका एक बड़ा सुंदर उदाहरण यहाँ दे रहे हैं, यद्यपि इस प्रकार के अनेकों उदाहरण उसमें मिलते हैं—

शोकस्यहर्ता शरणागतानाम्।
शोकस्यकर्ता प्रतिगर्विंतानाम्।
अशोक मालाब्य सजात शोका।
प्रियाम प्रिया शोक बनाम् सशोक[१] ॥

(सर्ग ७-५)

इसमें शोक पद की आवृति होने से आवृति दीपक है, तथा शोक और अशोक शब्दों से मध्यम कोटि का यमक अलंकार भी बन जाता है, किंतु इन शब्दों में अर्थ-गोपन की क्षमता न होने के कारण इसकी गणना दृष्टिकूट में नहीं होगी।

(२) बहिर्लापिका—

सुंदर स्याम सोभा देख।
बारि ससि के आदि कोटिन कोट लाजन लेख॥

(पद सं० ८५)

इसमें बारि जल = कः = 'का' तथा ससि = मयंक का 'म' लेकर काम शब्द निकाला गया है, जो छुपा हुआ था और संकेत मात्र से बाहर लाया गया है।

(३) प्रहेलिका—

देखि सखी, तीस भानु इक ठौर।
ता ऊपर चालीस बिराजत, सुधि न रही कछु और॥

---

१. 'जो शरणागतों का शोक हरण करने वाला (और) अभिमानियों को शोक देने वाला था, वह शोकित हो अशोक वृक्ष का सहारा ले, अशोक बन को चाहने वाली अपनी प्रिया के लिए शोक करने लगा।''

धर तैं गगन, गगन तैं धरती, ता बिच कियौ बिस्तार।
गुन-निर्गुन सागर की सोभा, बिनु रबि भयौ भिनसार॥
कोटनि कोट तरंगनि उपजत, जोग जुगति चित लाउ।
'सूरदास' प्रभु अकथ कथा कौ, पंडित भेद बताउ॥
(पद सं० ३५)

उक्त पद एक पहेली है, जिसे सूरदास जी पंडित जनों से भेद जानने के लिए कह रहे हैं।

कितने ही आचार्यों ने बहिर्लापिका तथा प्रहेलिका को अलंकार नहीं माना, उसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये काव्य की शोभा को अलंकारवत् देदीप्यमान नहीं करते, किंतु उसका और भी अविगुंठन कर देते हैं। इसीलिए हमने भी यही माना है कि ये अलंकार दृष्टिकूट के अंतर्गत ही आ जाने चाहिये।

(२) अर्थालंकारिक दृष्टिकूट

कुछ अर्थालंकर भी ऐसे हैं, जिनमें अर्थ-गोपन की क्षमता होती है उनमें (१) रूपकातिशयोक्ति (२) सूक्ष्म और (३) युक्ति हैं।

(१) सूरदास ने अपने कूटों में रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग प्रचुरता से किया है, यथा—

(१) अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंघ करत अनुराग॥
हरि पर सरबर, सर पर, गिरबर, गिर पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक मृग-मद काग।
खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
(पद सं० २३)

इसमें बाग, कमल, गज, सिंह, सरवर, गिरवर, कंज, पराग, कपोत, अमृत-फल, पुहुप, पल्लव, सुक, पिक, काग, खंजन, धनुष, चंद्रमा और मनिधर नाग शब्द नायिका के अंगों के उपमान रूप होकर ही आए हैं तथा यहाँ केवल उपमान ही उपमान हैं, जिससे रूपकातिशयोक्ति अलंकार होकर मुख्य अर्थ का गोपन हो जाता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण हैं—

(२) राधे, तेरे नैन किधौं री बान ।
यौं मारैं ज्यौं मुरछि परै धर क्यौं कर राखै प्रान ॥
खग पर कमल, कमल पर कदली, कदली पर हरि ठान ।
हरि पर सरबर, सर पर कलसा, कलसा पर ससि भान ॥
ससि पर बिंब, कोकिला ता बिच, कीर करत अनुमान ।
बीच-बीच दामिनि दुति उपजति, मधूप जूथ असमान ॥
(पद सं० ३६)

(३) राधे, तैं बहुत लोभ कियौ ।

❀

मृग कोदंड अबनिधर चपला बिबस जु कीर अरयौ ॥
(पद सं० ४४)

(२), (३) सूक्ष्म और युक्ति—इन अलंकारों में क्रिया-द्वारा नायक और नायिका दोनों के द्वारा किन्हीं भावों का आदान-प्रदान इंगित द्वारा, सखी, सखा, दूति अथवा गुरुजन के समीप गुप्त रखने के हेतु किया जाता है, जिससे यह गूढ़ रहस्य औरों की आँखों से छिपा रहे, वहाँ ही सूक्ष्म अलंकार होता है किंतु जहाँ यह भाव दोनों से न होकर केवल एक ही ओर से होता है, वहाँ युक्ति अलंकार होता है। यथा—

स्याम, अचानक आय गए री ।
मैं बैठी गुरुजन-बिच सजनी, देखत ही मो नैन नए री ॥
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बैंदी सौं कर परस कियौ री ।
आप हँसे उत पाग मसकि हरि, अंतरजामी जानि लियौ री ॥
लैकर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि उनि हृदै धरयौ री ।
चरन छुए, दोऊ नैन लगाए, मैं अपने भुज अंक भरयौ री ॥
(पद सं० १८)

इस पद में नायिका और नायक ने भरे भौन में क्रिया द्वारा अपने भावों का आदान-प्रदान किया है। इसलिए इसमें सूक्ष्म अलंकार है तथा अर्थ-गोपन क्षमता से दृष्टिकूट के अंतर्गत आ जाती है।

दृष्टिकूट और अन्य अलंकार

यहाँ अर्थालंकारिक दृष्टिकूट के संबंध में दो-एक अलंकार और भी ऐसे हैं

जिनमे विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें अर्थ-गोपन का पुट रहता है, परंतु वे दृष्टिकूट की श्रेणी में नहीं आते। उनके संबंध में यहाँ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। वे अलंकार हैं (१) अन्योक्ति (२) वक्रोक्ति और (३) श्लेष।

(१) अन्योक्ति को दृष्टिकूट रचनाओं में न मानने का मुख्य कारण यह है कि कवि का उद्देश प्रस्तुत को छोड़ कर अप्रस्तुत की ओर ही विशेष रहता है परंतु दृष्टिकूट में प्रस्तुत ही प्रस्तुत रहता है। रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान ही उपमान अवश्य रहते हैं, किंतु वे अपने धर्म को नहीं त्यागते पर अन्योक्ति में उसकी एक छाया मात्र ही झलकती रहती है, यथा—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखि बिहंग बिचार।
बाज पराए पानि पर, तू पंछीह न मार॥

यहाँ बाज रूप में ऐसे व्यक्ति के प्रति उक्ति है, जो दूसरे के लिए (या अपने स्वामी के लिए) पक्षी रूपी निरीह प्राणियों को नाश करने के हेतु प्रस्तुत रहता है। यहाँ बाज प्रस्तुत है और सेवक अप्रस्तुत, किंतु कवि की दृष्टि में अप्रस्तुत ही प्रस्तुत है। दृष्टिकूट में ऐसा नहीं होता, उसमें केवल प्रस्तुत ही प्रस्तुत है और उस प्रस्तुत को ही गोप्य किया जाता है।

(२) वक्रोक्ति में कवि, अर्थ को काकु-द्वारा अथवा श्लेष-द्वारा गोपन करता है। काकु में प्रायः लक्षण-लक्षणा रहती है और श्लेष में अर्थ से भिन्नता उत्पन्न की जाती है, किंतु इन दोनों प्रकार की वक्रोक्तियों का अर्थ कवि का आशय प्रकट करने के लिए होता है, उसको छिपाने के लिए नहीं, अथवा सभंगपद वक्रोक्ति में पद के विन्यास-द्वारा ही उत्तरदाता कहने वालों को उत्तर दे देता है। वहाँ भी अर्थ-गोपन का विषय नहीं होता।

(३) श्लेष शब्द अनेकार्थ का द्योतक है, अतएव इस प्रकार में वे सब ही अर्थ प्रस्तुत रहते हैं, जिनका वह द्योतन करता है। दृष्टिकूट में अभिधामूलक-व्यंग द्वारा अनेकार्थों में से केवल एक ही अर्थ की वाञ्छा रहती है।

सूरदास ने जहाँ अनेकार्थ वाची शब्दों का प्रयोग कर अभिधामूलक-व्यंग-द्वारा एक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता रखी है, वहाँ उन्होंने बीच-बीच में ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, जिनका जब तक समानार्थक शब्द न प्रस्तुत किया जाय तब तक अर्थ लगाने में असमर्थता रहती है। यथा—

(१) कालनाम रिपु ताकौ रिपु और ता बनिता कौं काहु न पाऊँ

(पद सं० ७५)

यहाँ मकरध्वज से कामदेव का अर्थ लेकर उसकी स्त्री, रति का अर्थ किया गया है।

(२) जल-सुत-सुत ताकौ सुत-बाहन ता तिरिया मिलि सीस दिये।

(पद सं० ७६)

यहाँ हंस से जीव, जीव से बृहस्पति, उनकी स्त्री तारा और तारा का अर्थ सितारे लिया गया है।

(३) ध्वनि परिवर्तक दृष्टिकूट

सूरदास ने अपने दृष्टिकूटों में ऐसे शब्दों को भी स्थान दिया है, जिनकी ध्वनि परिवर्तन करने से शब्द का अर्थ ही दूसरा हो जाता है। यथा—

(१) मंदिर-अरध अवधि बदि हमसौं हरि-आहार चलि जात।

(पद सं० ७०)

(२) हरि मोकौं, हरि-भष कहि जु गयौ।

(पद सं० ६३)

(३) नव और सात बीस तोहि सोभित काहे गहर लगावति।

(पद सं० ४१)

(४) सूरदास प्रभु हरि-सुत-बाहन ता-पख ह्वै रहे सीस चढ़ाई।

(पद सं० १८)

यहाँ हरि-अहार और हरि-भष शब्द का अर्थ मांस है, जिसकी ध्वनि परिवर्तन से मास शब्द बना लिया गया है, जिसका अर्थ महीना होता है। इसी प्रकार बीस से बिष और पख का पंख कर लिया गया है।

इतना ही नहीं सूरदास ने इन दृष्टिकूटों के रूपों का एक-एक रूप लेकर पृथक्-पृथक् रचना ही नहीं की, किन्तु उन्होंने एक-एक पद में कितने ही प्रकार के कूटों का सकर कर उनकी रचनाएँ की हैं, जिनके उदाहरण इस ग्रंथ में अनेकों स्थान पर मिलेंगे।

इस प्रकार दृष्टिकूट के वर्गीकरण का चित्र इस प्रकार बन जाता है—
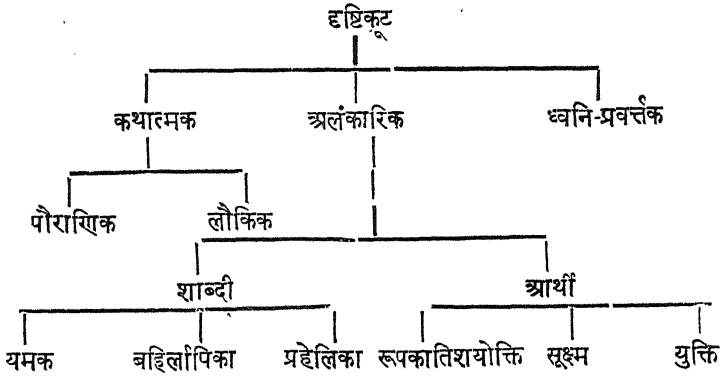
प्रेरणा का स्रोत

सूरदास को कूट लिखने की प्रेरणा किस प्रकार मिली, यह एक विचारणीय विषय है। बंगाल में श्री चैतन्य महाप्रभु ने कीर्तन भक्ति को प्रधान मानकर राधा-कृष्ण का कीर्तन आरंभ कर दिया था। श्री चैतन्य महाप्रभु ने विद्यापति के पद सुने थे। वह उनसे इतने प्रभावित थे कि जब वे लीला-पद उनके सन्मुख गाये जाते थे, तो वे आत्म-विस्मृत हो जाते थे। उनके शिष्य रूप गोस्वामी ने राधा-कृष्ण की कमनीय केलि-भूमि वृंदावन को अपना निवास स्थान बनाकर राधा-कृष्ण की कीर्तन भक्ति का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। विद्यापति के पद

---

१. वृन्दावन का महत्व चैतन्य और उनके शिष्यों के यहाँ आने से बहुत पहिले प्रसिद्ध हो चुका था। सम्भवत: इस नाम की वस्ती भी मध्यकाल में विद्यमान थी, जिसका उल्लेख यदाकदा तत्कालीन साहित्य में मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ काश्मीरी पंडित विल्हण, जो ग्यारहवीं शताब्दी विक्रमीय में हुए हैं, का वर्णन देखिये—

दोलालोलटघनजघनया राधयायत्र भग्ना,
कृष्ण क्रीड़ाङ्गण विटपिनो ना धुनाप्युच्छ्वसन्ति।
जलपक्रीड़ामथितमथुरासूरि चक्रेण केचित्,
तस्मिन्वृन्दावनपरिसरे बासरा येन नीता।

(विल्हणकृत विक्रमाङ्कदेव चरित, १८, ८७)

अर्थात् जिस वृन्दावन में चंचल और घन जंघाओं वाली राधा के झूला झूलने के कारण कृष्ण के विहार कुंज के वृक्ष टूट—टूट कर गिर पड़े हैं। जहाँ मथुरा नगरी के अनेक विद्वानों को मैं (विल्हण) ने शास्त्रार्थ में परास्त किया, वही वृन्दावन की भूमि में मैंने कई दिन तक निवास किया।"

उनके साथ आये और उन्होंने यहाँ भक्त-समाज में भी अच्छा आदर पाया तथा वे घर-घर में प्रचार पा गये। सूरदास ने जहाँ विद्यापति के और भी अनेकों पद सुने होंगे, वहाँ रूपकातिशयोक्ति और यमक अलंकार-द्वारा रचे हुए कूट पद भी उनकी दृष्टि से नहीं बच सके होंगे। विद्यापति ने एक पद रचा था—

ए सखि, कि पेखल[१] एक अपरूप।
शुनइते मानवि[२] सपन सरूप॥
कमल[३] युगल पर चाँदक माल[४]।
तापर उपजल तरुण तमाल[५]॥
तापर बेढ़ल[६] बिजुरि लता[७]।
कालिन्दि तीर धीर चलि जता॥
शाखा शिखर[८] सुधाकर पाँति[९]।
ताहि नव पल्लव[१०] अरुणक भाँति॥
विमल बिम्बफल[११] युगल विकास।
तापर कीर[१२] थीर करु[१३] बास॥
तापर चंचल खंजन[१४] जोड़।
तापर सापिनि[१५] झाँपल मोड़॥
ए सखि रंगिनि कहल निसान।
पुनि हेरइते हमे हरल गेयान[१६]॥
भनई विद्यापति इह रस भान।
सुपुरुष मरम तुहु भल जान॥

(विद्यापति पदावली ३१, ५६)

अब सूरदास के निम्न लिखित पद से इसकी तुलना कीजिये—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंघ करत अनुराग।
हरि पर सरबर, सरपर गिरबर, गिर पर फूले कंज पराग॥

देखा। २ मान। जाता है। ३ चरण कमल। ४ चंद्रमाला, नख चंद्र। ५ तमाल, उरू। ६ बूढ़ी हुई है। ७ रोमराजि। ८ हस्त अंगुलि। ९ नखावली। १० करतल। ११ ओष्ट। १२ नासिका। १३ स्थिर। १४ नेत्र। १५ वेणी। १६ ज्ञान।

रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक, मृग-मद काग॥
अंग अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस, मानौं अधरनि के बड़ भाग॥

(पद सं० २३)

इसकी तुलना के लिए विद्यापति का इसी भूमिका के १० वे पृष्ठ का पद भी देखिये। एक अन्य स्थान पर—

विद्यापति —

सारँग नयन बयन पुनि सारँग तसु समुदाने।
सारँग ऊपर उगल दस सारँग, केलि करचि मधु पाने॥

(विद्यापति पदावली १०, ११)

सूरदास—

सारँग नैन, बैनबर सारँग, सारँग बदन कहै छबि कोरी।
सारँग अधर, सुघर कर सारँग, सारँग जति सारँग मति भोरी॥

(पद सं० २६)

पुनः—

जनि हठि करहु सारँग नैनी।
सारँग ससि, सारँग पर सारँग, ता सारँग पर सारँग बैनी॥

(पद सं० ५३)

पुनः हरि शब्द के प्रयोग देखिये :—

विद्यापति—

हरि सम आनन, हरि सम लोचन, हरि तह हरि वर आगी।
हरिहि चाहि हरि हरि न सोहावए, हरि हरि कए उठ जागी॥
माधव, हरि रहु जलधर छाइ।
हरि नयनी धनि, हरि धरिनी हरि हेरइते दिन जाइ॥
हरि भेल हार, हार भेल हरि सम, हरिक बचन न सोहावै।
हरिहि पइसि जे हरि नुकाएल, हरि चढ़ि मोर बुझावै॥
हरिहि बचने पुनि हरि सञो दरसन सुकवि विद्यापति भाने।
राजा सिवसिंघ रूपनरायन लखिमा देवि रमाने॥

सूरदास—

हरि मोकौं, हरि-भष कहि जु गयौ ।
हरि दरसत हरि उदित मुदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ ।।
हरि-रिपु ता रिपु ता पति कौ सुत, हरि बिनु प्रजरि दहै ।
हरि कौ तात परस उर अंतर, हरि बिनु अधिक बहै ।।
हरि-तनया सुधि तहाँ बदति हरि, हरि अभिमान न ठायौ ।
अब हरि दवन दिवा कुबिजा कौं, सूरदास मन भायौ ।।
(पद सं० ६२)

उक्त पदों की तुलना करने से यह स्पष्ट है कि यह पद अपने पूर्ववर्ती मैथिल कवि कोकिल की रचनाओं को लक्ष्य कर ही रचे गये। यही नहीं उनको यह पद्धति निश्चय ही इतनी पसंद आई कि उन्होंने इस सारंग शब्द को लेकर कई पदों की रचना की और रूपकातिशयोक्ति-द्वारा कितने ही कूट बनाये तथा महाभारत और भागवत की प्रणाली पर (जिसे वे नित्य प्रति सुनते थे) कूट परम्परा को विकसित कर हिंदी-साहित्य को कूटों की अपूर्व देन दी। उदाहरण के लिए "नदीज लङ्केश बनारिकेतोः" वाले श्लोक की तुलना कथात्मक कूट-पद्धति वाले पदों से की जा सकती है। "जलसुत जामे नंद द्वार" की तुलना "सुपर्णा वेत्तौ सदृशो सखायौ" और "पद्मिनि सारँग एक मँझारि" की तुलना यमक कूट वाले "सत्यं व्रतं" वाले श्लोक से की जा सकती है। तथा उससे यह भली-भांति विदित हो जाता है कि सूरदास के पद इन्हीं पद्धतियों के अनुसरण से रचे गये हैं।

कबीर की उलट-बाँसी

कबीर ने जिस लोक-साहित्य का सृजन किया, यद्यपि वह संस्कृत के पंडितों के विवाद विषय से बहुत ही निम्न स्तर का था, किंतु जन साधारण के लिए वह सहज गम्य और प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उस समय उन्होंने कुछ ऐसी रचनाएँ भी की जिनके अर्थ छिपे हुए रहते थे और वे सहज ही में समझ में नहीं आते थे। फिर भी क्या कारण हैं कि ऐसी रचनाएँ दृष्टिकूट की कोटि में न आकर उलट-बाँसी कहलाती हैं। यहाँ यह बात है कि एक तो कबीर ने स्वतः ही अपनी इस प्रकार की रचना को "उलट-बाँसी" कहा है क्योंकि इन उलट-बासियों में उन्होंने जो बात कही है वह लोक समाज से बिल्कुल उल्टी प्रतीत होती हैं, फिर भी उनका अर्थ करके वे उसे सीधा कर देते हैं। दूसरे उनके पीछे कोई साहित्य-

शास्त्र का आधार नहीं है। दृष्टिकूट के प्रत्येक पद के पीछे साहित्य अथवा कथा का आधार रहता है यह भिन्नता निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है—

पहिले पूतु पिछैरी माई।
गुरु लागौ चेले की पाई।।
एक अचंभउ सुनहु तुम माई।
देखत सिंघ चरावत गाई।।
जल की मछुली तरवरि बियाई।
देखत कुतरा ले गई बिलाई।।
तले रे वैसा ऊपरि सूला।
तिसकै पेड़ि लगे फल फूला।।
घोरे चरि भैंस चरावन जाई।
बाहरि बैलु गोनि घर आई।।
कहति कबीर जु इस पद बूझै।
राम रमत तिसु सब किछु सूझै।।[1]

(संत कबीर ३०, १७)

सूरदास --

१—देखौ माई दधि-सुत में दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात॥

(पद सं० ३)

२—सारँग-सुत-पति-तनया के तट, ठाढ़े नंद-कुमार।

× × ×

एक अचंभौ और बताउँ, पाँच चंद दबे कमल मँझार॥

(पद सं० ८३)

इन पदों में सूरदास और कबीरदास दोनों ने ही अचंभे का वर्णन किया है परंतु दोनों का दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। कबीर निर्गुण ब्रह्म, माया, सुषुम्ना

---

१. पूत—पुत्र, जीव। माई—माता, माया। गुरु—शब्द। चेला—जीवात्मा। सिंघ—ज्ञान गाई—गाय, वाणी। मछुली—मछली, कुंडलनी। तरुवरि—वृक्ष, मेरुदंड। कुतरा—अज्ञानी बिलाई—बिल्ली, माया। पेड़ि—पेड़, सुषुम्ना नाड़ी। फल-फूल—चक्र, सहस्त्र दल कमल। घोरे—घोड़ा, मन। भैंस—तामसी वृति। बैल—पंच प्राण। गोनि—स्वरूप की सिद्धि।

नाड़ी, योग की कुंडलनी और सहस्रदल कमल का वर्णन करता है, तो सूरदास सगुण ब्रह्म अवतार श्रीकृष्ण का, जो गोपियों द्वारा उद्धव के योग की खिल्ली उड़ाता है, परंतु हमारा वर्णनीय विषय यह नहीं है। हमारा विषय तो यह है कि दोनों ने ही अचंभे का वर्णन किया है। यदि एक के पुत्र से माता की उत्पत्ति होती है, गुरू, चेला के चरण स्पर्श करता है, तो दूसरा शत्रु में शत्रु का विलीन होना वर्णन कर रहा हैऔर पाँच चंद्रमाओं का एक कमल के नीचे दवे होने पर आश्चर्य प्रकट कर रहा है। यहाँ उभय पदों में समानता-सी ही दीखती है। किंतु सबसे बड़ी असमानता भी यही है। कबीर के अर्थ पुष्ट करने को उस शिष्य-परंपरा के अतिरिक्त, जो गुरु-परंपरा से अर्थ है, वही एक अर्थ सुनते आ रहे हैं, कोई और परंपरा नहीं है। साथ ही उसका कोई शास्त्रीय आधार भी नहीं है। सूरदास के अर्थ को पुष्ट करने के लिए अलंकार-शास्त्र उनकी पीठ पर है। कबीर की उलट-बाँसियों में सदा लोक-विपरीत बात ही कही जाती है, दृष्टिकूटों में इस प्रकार का कोई बंधन नहीं है।

उपर्युक्त बातें कबीर की उलट-बाँसियों के सबंध में कही जा सकती है। कबीर की रचनाओं में कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो दृष्टिकूट की कोटि में आ जाती हैं, यथा—

ए अखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो॥
खंभा पकरि पतंग अस डोले, बोले मधुरी बानी।
फूलन सेज बिछाय जो राखी, पिया बिना कुम्हलानी॥
धीरे पाँव धरो पलंगा पर, जागत ननद जेठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक लाज बिछलानी॥

यहाँ कबीर का उद्देश नायिका-द्वारा पिय-समागम की इच्छा नहीं, प्रत्युत जीवात्मा का ब्रह्म से अभीष्ट है और यही इस पद में कूटत्व है, किन्तु सूर ने इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा को पति-पत्नी रूप में कहीं भी वर्णन नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास की दृष्टिकूट-रचना में कबीरदास का किसी भाँति भी हाथ नहीं है। वह एक पृथक् परंपरा है जो उन्हें महाभारत और भागवत से तथा विद्यापति से उन्हें इस क्षेत्र में लिखने की प्रेरणा मिली। परंतु यह बात निश्चित है कि उनकी रचनाएँ इस क्षेत्र में पूर्ण मौलिक हैं, तथा उन्होंने उस कूटपद्धति पर भी संस्कृत-साहित्य से पृथक् अपनी एक छाप लगा दी है। उनके शब्द चयन का ढंग अलग है, कूटों पर

अलंकारादि की एक पृथक् ही छाप लगी हुई है तथा कृष्ण-केलि को दृष्टिकूट के ढाँचे में ढालकर यह दिखाया है कि यह गोपनीय विषय है, जिसका प्रत्येक जीव अधिकारी नहीं है।

दृष्टिकूट का वर्ण्य विषय

सूरदास के विनय के पदों में केवल एक पद दृष्टिकूट का है जो शांत-रस से परिपूर्ण है, चार पद बाल-लीला के और शेष शृंगार-रस के हैं। उनमें संभोग और विप्रलंभ दोनों शृंगारों का वर्णन है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वे एक वस्तु के दो छोर हैं। वियोग से संयोग और संयोग से वियोग की सृष्टि होती है। सूरदास ने दोनों ही का वर्णन किया है। नायक और नायिका अभिन्न हैं, इन पदों का विषय यह भी नहीं है कि संभोग नायकारब्ध है अथवा नायिकारब्ध, किन्तु वे राधा-कृष्ण (प्रकृति और पुरुष) नाम की भाँति एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। जैसे राधा-कृष्ण के नामाक्षर पृथक् नहीं है उसी प्रकार उनकी केलि-प्रिया प्रियाजी का रूप भी उनके प्रीतम से पृथक् नहीं है, तभी तो सूरदासजी लिखते हैं —

'रसना' जुगल रस निधि बोल।
कनक बेलि तमाल उरझी, सुभुज बंध अखोल ॥
भृंग जूथ सुधा करनि मनु, घन मैं आवत जात।
सुरसरी पर तरनि-तनया, उमँगि तट न समात ॥

(पद सं० २७)

इस प्रकार और भी कई पद हैं, जो इस संग्रह में आपको मिलेंगे वे संयोग शृंगार जैसे ही हैं।

नायक और नायिका का समागम न होना ही वियोग है और इस वियोग का वर्णन ही विप्रलंभ शृंगार है। यह वियोग दो कारणों से होता, (१) प्रवास और (२) मान।

प्रवास—नायक नायिका को छोड़ कर कारण-विशेष से विदेश चला जाता है तो वह 'प्रवास वियोग' कहा जाता है। सूरदास ने इस संबंध के कितने ही पद लिखे हैं। यथा—

१. बालमा बिलम बिदेस रह्यौ री। (पद सं० ८६)
२. दधि-सुत सौं बिनवति मृग नयनी। (पद सं० ७२)
३. हरि-बिनु, ऐसी बिधि ब्रज जीजै। (पद सं० ६६)

ऐसे स्थलों में अपने प्रीतम के न मिल ने की निराशा ही अधिक होती है। मिलने की कामना तो अवश्य रहती है, परंतु वह आशावत् अधिक नहीं। यहाँ, यदि नायिका को यह प्रतीत हो जाय कि नायक आ रहा है तब वह नायिका प्रोषितभर्तृका नहीं रहती, आगतपतिका हो जाती है और इस प्रकार उसकी वासना मिट जाती है। सूर के "हमतौ दुहूँ भाँति सुख पायौ" वाले पद से विरहणी की भावना-युक्त वास्तविक मनोदशा का चित्रण स्वच्छ नहीं, किंतु उसकी निराशामें आत्म तुष्टि की भावना अवश्य ही प्रकट होती है। साथ ही कुरुक्षेत्र के मैदानमें सूर्य ग्रहण के अवसर पर जब राधा और कृष्ण का मिलन होता है वहाँ दो विरही हृदयों की उत्कट लालसा अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है—

राधा माधव भैंट भई।

राधा माधव के रँग राची, राधा माधव रंग रई॥

किंतु यह प्रवास-विरह लंबा होता है। यह दिनों, महीनों और वर्षों का होता हुआ असीम तक पहुँच सकता है, किंतु इससे एक अल्प समय का विरह भी झलकता है, जिसमें नायिका कहती है—

उगवैं सूर छुटैं वे बंधन, तौ बिरहिनि रति मानैं।

यह एक रात्रि का विरह है। इसमें नायक नायिका के यहाँ नहीं पहुँच पाता जिससे वह दुःखी होती है। इस विरह की पृष्ठ-भूमि इस प्रकार है—

नायिका श्रृङ्गार किये हुए अपने प्रिय के ध्यान में अपनी शैया पर बैठी हुई है। ऐसी नायिका वासकसज्जा कहलाती है।[1] वह विरहणी तो है ही क्योंकि उसका प्रीतम उसके पास नहीं है परंतु वह दुखी नहीं है, क्योंकि उसे नायक का नियत समय पर आने का विश्वास है। आगे चलकर समयांतर से जैसे-जैसे नायक के आने का समय समीप आता जाता है तो उसके हृदय में आकांक्षा बढ़ती जाती है और समय बीतने पर वही उत्कंठिता बन जाती है। यह उत्कंठा नियत समय के कुछ पूर्व भी उत्पन्न हो सकती है। इसलिये वह सेज त्यागकर बार-बार द्वार तक जाती है और फिर वापिस आ जाती है। उसके हृदय में शंका, भय, निराशा और आशा का मिश्रण होता रहता है। यह नायिका प्रोषितभर्तृका नहीं, क्योंकि इसका प्रीतम विदेश में नहीं, देश में ही रहता है। यदि

---

१. सजि सेज ध्यान पिय कौ करैं वासकसज्जा जानिएँ।

कविरत्न 'नवनीत'

नायक नायिका के पास प्रातःकाल तक नहीं पहुँचता (चाहे वह किसी कार्यवश हो अथवा अन्य नायिका के निवास के कारण हो । किन्तु किसी कारणवश नायक का न पहुँचना वासकसज्जा और उत्कंठिता की सृष्टि नहीं कर सकता । क्योंकि तब नायक के पास कारण होता है और नायिका की तुष्टि । इसीलिए काव्य में 'अन्य नायिका संभोग' का ही विषय लिया जाता है और जब नायिका यह जानती है कि भ्रमर ने किसी कुमुदिनी के हृदय से लगकर रात्रि व्यतीत की है और वह अरुणोदय में ही पधारे हैं) तो वह नायिका खंडिता[1] बन जाती है ।

अब हम इस परिधि को कुछ और संकुचित कर देते हैं, जिससे यह विरह वर्षों, महीनों और दिनों का न रहकर और कम समय में अपना कटु अनुभव कराता है । यह विरह नवीन प्रेम के आरंभ में ही मिलता है, जहाँ—

'नवल किसोर नवल नागरिया नये प्रेम रस पागे' वाली उक्ति चरितार्थ होती है । वहाँ तो—

छिन, पल रावरे की आस ।
करन नाव सु पंच संग्या, जान कैं सब नास ॥
भूमिधर-अरि-पिता बैरी, बाँध राखी पाँस ।
सिंधु-सुत धर सुहित-सुत, गुनि गहकि कोप्यौ गाँस ॥
भानु अंस गिरीस आखर, आदि अंग प्रकास ।
सूर फिर फिर सुर-सुत की, परन चाहत पास ॥
(पद सं० ८४)

यहाँ छिन-पल भी उसी की आशा रहती है । वियोग फिर किस प्रकार सहन हो सकता है । संकेत स्थल पर पहुँचने की चेष्टा होती है, विघ्न उपास्थित होते हैं, जा नहीं सकती, संकेत नष्ट हो जाता है अथवा वह पहुँचाही चाहती है और नायक उस स्थान से वापिस आ जाता है ।[2] उस समय उसकी आकुलता, आतु-

---

१. 'भोर भवन दरसाय खंडिता करत खंड हीय ।'
कविरत्न 'नवनीत'

२. इस प्रकार की नायिका को अनुशयना कहते हैं—
'व्याकुल अनुशयना त्रितिय रमन गमन अनुमान' ।
(काव्य प्रभाकर)

३. यह नायिका विप्रलब्ध है—
'बिप्रलब्ध संकेत जाय मन मीत न पावै । '
कविरत्न 'नवनीत'

रता, और विवशता का जो रूप है वह उससे किसी भाँति कम नहीं जो नायिका का संकेत स्थल पहुँच कर भी नायक के न मिलने पर होता है।[3] मिलने के लिए सखी और दूतियों-द्वारा संवादों का आदान-प्रदान होता है और शीघ्रातिशीघ्र मिलने के लिए प्रार्थना की जाती है। यह सखी और दूती अंतरंगणी ही होती हैं, जो वहिरंगणी साखियों के सामने भी 'कूट' द्वारा संवाद सफलता पूर्वक दे सकती हैं। परंतु इस नवीन प्रेम की नायिका होती है विरहणी ही। यह विरह महींनों और वर्षों की भाँति कलपाने वाला नहीं, रात्रि की निबिड़ वेला में आशा और निराशा की पैग भरनेवाला नहीं, किंतु तिल-तिल पल-पल समय में ही विषम वेदना अनुभव कराने वाला होता है, मानों वर्षों का दुख सिमिट कर उस त्रुटि मात्र समय में ही इकट्ठा होकर उस पर आ पड़ा हो। यही प्रेम और विरह सच्चे भक्त का विरह है, जिसे गोपियों ने अनुभव किया था तथा सूर आदि भक्त कवियों ने वर्णन किया है।[1]

मान—हम ऊपर बता आये हैं कि विरह का कारण प्रवास है, वह चाहे विदेश-गमन से हो अथवा नायक का अन्य नायिका की अनुरुक्ति से, किंतु इसका एक कारण और भी है, वह है 'मान'। यह मान चाहे नायक का मान हो चाहे नायिका का।

मानी नायिका का वर्णन छोटे-बड़े सभी कवियों ने किया है। मानी नायक का वर्णन केवल लीला हाव के ही रूप में मिलता है। सूरदास और किसोर ने ऐसा ही किया है,[2] क्योंकि नायक को नायिका में कोई दोष कभी भी दिखाई

---

१. गीतगोविंदकार श्री 'जयदेव' कवि कहते हैं—

क्षणमपि विरहः पुरा न सेहे।
नयननिमील खिन्नयाययाते॥
श्वसिति कथमसौ रसाल शाखां।
चिर विरहेण विलोक्य पुष्पिताग्राम॥

[चतुर्थ र्ग]

अर्थात् "जो पलक गिरने से भी उत्पन्न यानी निमिष मात्र को भी आपके दर्शन न पाकर विरह से खेदित होती थी। वही राधा [आपके बिना] खिली हुई आम की मंजरी को देखकर कैसे जी सकेगी।

१. किसोर का निम्न लिखित मानी नायक का वर्णन बड़ा सुंदर है—

पिय भई प्यारी, गहि चरन मनावैं, बाँधैं जरकसी चीरा सिर जरद अमैंठौ है।

नहीं देता, जब कि नायिका नायक से अनेक कारणों से कुपित होकर मान कर सकती है। इसका कारण समय न मिलने से लेकर अन्य नायिका के प्रति आशक्त तक हो सकता है। नायक नायिका के पास आता है, किंतु वह उसका आदर नहीं करती, अनादार करती है, अथवा बोलती ही नहीं। नायिका मानवती है किंतु यदि नायक उसके पास से वापिस चल जाता है और नायिका को अपनी भूल पर पछतावा होता है तो वही नायिका कलहांतरिता बन जाती है। उधर नायिका का घर बंद होने से नायक को विकलता बढ़ती है, इधर नायिका को चैन नहीं। दोनों ओर से समझाने की भावना से, अथवा मेल कराने की इच्छा से दूती और सखियों का आदान-प्रदान होता है। नायिका (राधा) के मान करने पर दूती कहती है —

राधे हरि-रिपु क्यौं न दुरावति।
सैल-सुता-पति तासु सुता-पति ताके सुतहिं मनावति॥
हरि-बाहन सोभा यै ताकी, कैसें धरैं सुहावति।
द्वै अरु चार छहौ वै बीते, काहे गहरु लगावति॥
नव अरु सात ए जु तोहि सोभित, ते तू कहा दुरावति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, सारँग भरि-भरि आवति॥

(पद सं० ४२)

उधर राधिका की सखी कृष्ण से कहती है कि तुम्हारे, नायिका के पास से, वापिस आते ही नायिका का त्रुटि और लव के बीच ही दीर्घ मान मोचन हो गया और यदि आप अब उसके पास न चले तो कामदेव निश्चय ही उसे मार डालेगा।

मनसिज माधौ, मानिनिहिं, मारि है।
त्रोटि पर लव अरति परमौअर, निरखि निमुख को तारि है॥

(पद सं० २६)

यह तो दूर की बात हुई। अब पास की बात लीजिये। नायक और नायिका पास-पास बैठे हैं, किंतु नायिका ने नायक से मान किया हुआ है और वह उससे

जदपि न मानैं तानैं भृकुटी कमानैं बानैं, कौमल सुभाव कियौ अति ही कुठैठौ है॥
कहत 'किसोर' देखि देखत मही की ओर, बरबस आली सो हिए मैं जात पैठौ है।
अमल अनूप रूप राधिका कौ ठान आजु, परम सुजान कान्ह मान कर बैठौ है॥

बोलती नहीं। इधर नायक भी चतुर है, वह नायिका से रूपकातिशयोक्ति के आधार पर एक विचित्र घटना का वर्णन करता है और उसका मान-मोचन करने में समर्थ होता है—

देखे सात कमल इक ठौर।
तिनकौं अति आदर दैवे कौं धाइ मिले द्वै और॥

❀

हरि तिनि स्याम निसा, निसि नायक, प्रघट होत हँसि बोले।
चिबुक उठाइ कह्यौ अब देखौ, अजहूँ रहति अबोले॥
इतने जतन किए नँदनंदन, तब वह निठुर मनाई।
भरिकैं अंक सूर के स्वामी, पर्यंक पर गहि ल्याई॥

(पद सं० ३०)

इस प्रकार सूर के दृष्टिकूटों को देखने से प्रतीत होगा कि जहाँ कवि ने संभोग-शृंगार का वर्णन किया है, वहाँ विप्रलंभ में भी प्रोषितभर्तृका, मानवती, कलहांतरिता आदि का विषद वर्णन किया है, जो इस संग्रह में स्थान-स्थान पर देखने को मिलेगा, परंतु इन सबका लक्ष्य एक ही है। राधा, श्याम से मिलना चाहती है, सखी उसे श्याम से मिलाना चाहती है, दूती भी उसे श्याम से मिलने की प्रेरणा देती है। श्याम उससे मिलने आते हैं, परंतु वह उनसे नहीं मिलती और वह लौट जाते हैं। पश्चात्ताप की भट्टी में गला कर वह अपने आपको शुद्ध करती है और वह श्याम के समस्त दोषों को भूल जाती है तो दूती द्वारा श्याम उस पर पुनः अनुग्रह करते हैं। तभी नायिका उनके पास प्रकृति और पुरुष की भाँति रहना चाहती है, उनका कभी भी साथ नहीं छोड़ती। यही संयोग और वियोग की वेला रात-दिन की भाँति इस संसार चक्र को चला रही है। यही वासना जहाँ प्राणी-मात्र को दुःख का कारण बन जाती है। परंतु यही वासना यदि परमात्मा के चरणों में लगा दी जाती है, तो वह उसे अनंत लीला में सम्मलित कर देती है। सूरदास ने जहाँ जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों का वर्णन किया है, वहाँ वह अपने परम लक्ष्य को भी नहीं भूले हैं। यह उनके काव्य के अध्ययन से भली-भाँति समझ में आ जाता है।

अलंकारों का प्रयोग

हम पहिले बता चुके हैं कि सूरदास ने कुछ अलंकारों का प्रयोग अर्थ को

दृष्टिकूट करने के लिए किया है। जहाँ रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकार उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना कार्य कर रहे हैं। यह वस्तु उन्हें महाभारत और श्रीमद्भागवत से प्राप्त हुई. किन्तु इसमें भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो सूरदास की निजी सम्पत्ति कही जा सकती है और उनमें उनकी मौलिकता की छाप लगी हुई है। यथा—

देखि री, प्रघट द्वादस मीन।

षट इंदु, द्वादस तरनि सोभित, बिमल उड़गन तीन॥

❀

ब्रज कुँवरि, गिरधर कुँवर पर है, सूर जन बलिहारि॥

(पद सं० ३४)

रूपकातिशयोक्ति के रूप में नख-शिख का वर्णन तो अन्य कवियों ने भी किया है, जैसा कि सूरदास ने किया है, किंतु एक एक उपमान को तिगुना कर देना यह सूर की प्रतिभा का ही फल है, जिसको उन्होंने स्थान-स्थान पर स्वरूप-सौंदर्य वर्णन करने में अपनी इच्छानुसार प्रयोग किया है।

संस्कृत कवियों ने जो कूट वर्णन किये हैं, उनमें अन्य अलंकारों का समावेश बहुत कम हो पाया है, किन्तु सूरदास—एक सफल बाजीगर की भाँति, जो एक तमाशा दिखाते-दिखाते दूसरा खेल निकाल लेता है, अपने काव्य में दृष्टिकूट दिखाते-दिखाते अन्य अलंकारों की भी रचना कर डालते हैं, जिसे देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। उन्होंने जहाँ यमक के द्वारा अर्थ-गोपन का कार्य किया है, वहाँ नख-शिख का वर्णन करते हुए सांग रूपक की भी सृष्टि कर डाली है, जो वह देखते ही बन पड़ती है। जैसे—

पदमिनि साँग एक मँझारि।

आपहिं सारँग नाम कहावै, सारँग बरनी बारि॥

तामैं एक छबीलौ सारँग, अध सारँग उनहारि।

अध सारँग पर सकलइ सारँग, अध सारंग बिचारि॥

तामैं सारँग-सुत सोभित है, ठाड़ी सारँग भारि।

सूरदास प्रभु तुमहूँ सारँग, बनी छबीली नारि॥

(पद सं० २४)

सूरदास ने कहीं-कहीं प्रस्तुत को दृष्टिकूट बनाकर अप्रस्तुत उत्प्रेक्षा-द्वारा व्यक्त किया है। जैसे—

हर-सुत-बाहन-असन सनेही, मानहुँ अनल देह दौ लाई।

(पद सं०५१)

यहाँ 'हर-सुत ··· सनेही' वायु है, उसे तो दृष्टिकूट का रूप दे दिया है, किंतु 'अनल ·· लाई' की उत्प्रेक्षा देकर उसे कुछ-कुछ प्रकट कर दिया है।

कहीं-कहीं उन्होंने प्रस्तुत को सीधे शब्दों में वर्णन कर अप्रस्तुत को कूट-रूप दे दिया है। यथा—

पीतांबर की सोभा सखी री, मोपै कही न जाई।

सागर-सुता-पति आयुध मानों बन-रिपु-रिपु में देत दिखाई॥

(पद सं० १६)

यहाँ पीतांबर को साधारण रूप देकर उत्प्रेक्षा को दृष्टिकूट का रूप दे दिया है। कहीं-कहीं सूरदास ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों को ही दृष्टिकूट का रूप दिया है। जैसे—

मुद्रापति अचवन तनया-सुत, ताके उरहि बनावहि हार।

गिर-सुत तिन पति बिबस करन कौं अच्छत लै पूजत रिपु मार॥

(पद सं० ११)

कहीं-कहीं उन्होंने शब्द श्लेष का सहारा लेकर दृष्टिकूट में एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। यथा—

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियौ।

(पद सं० २)

देखौ माई, दधि-सुत मैं दधिजात।

(पद सं० ३)

इन दोनों पदों में जहाँ दधि शब्द दृष्टिकूट बन कर अर्थ का गोपन कर रहा है। वहाँ समुद्रका अर्थ देकर एक नया चमत्कार उत्पन्न कर रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास ने अपनी शैली के अनुसार दृष्टिकूट में भी अलंकारो का वर्णन किया है, जिसका वर्णन अन्य कवि नहीं कर सके हैं। उन्होंने कूट अवश्य लिखे, किंतु कूट कहते समय वह यह बात भूल से जाते हैं कि उन्होंने कोई गूढ़ार्थ की बात कही है। उनके समक्ष वे उपमान ही साकर रूप होकर प्रिया-प्रीतम के नख-शिखों का प्रतीक बन जाते हैं और वे उन्हीं में उत्प्रेक्षा, संदेह आदि अलंकारो का वर्णन करने लगते हैं, यही सूरदास के दृष्टिकूटों की विशेषता है।

दृष्टिकूट में शब्दों का प्रयोग

दृष्टिकूट में शब्दों का चयन करने में सूरदास ने अपने अगाध शब्द-भंडार का परिचय दिया है। वह शब्द अर्थ से संबधित हैं और एक-एक शब्द के इतने अर्थ किये हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अर्थ ही शब्द को चला रहे हैं। यमक प्रभृति कूटों का वर्णन करने में तो उन्होंनें इतना अधिक वर्णन किया है कि कवि के इच्छित अर्थ को जान लेना सरल कार्य नहीं। कौन अर्थ किस स्थान पर ठीक बैठेगा, इसका पता विषद व्याख्या द्वारा और सो भी कठिनता से लगता है। यमक-द्वारा कूटों की रचना में सब से अधिक सारंग शब्द का प्रयोग किया गया है।

'सारंग शब्द हिन्दी में संस्कृत-साहित्य से आया है। अमरकोश में सारंग शब्द के निम्नलिखित अर्थ मिलते हैं—

सारंग—विश्वेतच्छदौ हंसौ, सूर्य वन्हि विभावसु।

वत्सौ तर्णक वर्षाह्वो, सारंगश्च दिवौकसः॥

सूर्य, सफेद पंख का पक्षी, हंस, निष्टह, विष्णु, शरीर, अग्नि, बछड़ा, बेटा, चातक और देवता।

सारंग—सारंगस्तोकश्चातकः समः। 'पपीहा नामावली'

सारंग - चातिके हरिणे सारंगः शवलेत्रिषु। 'चातक नामावली'

नंददास जी ने अपनी 'अनेकार्थ-मंजरी' में 'सारंग' शब्द के अर्थ इस भाँति दिये हैं—

दो०—रबि, ससि, हय, गज, गगन, गिरि, केहरि, कुंज, कुरंग।

चातक, दादुर, दीप, अलि, ऐ कहिए सारंग॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अमरकोश' के पश्चात् 'सारंग' शब्द के अर्थों में उन्नति हुई, किंतु नन्ददास उस समय के संपूर्ण प्रचलित अर्थों को अपनी अनेकार्थ-मंजरी में देने में असफल रहे, क्योंकि उनसे पूर्व उनके अर्थों से भिन्न सारंग शब्द के कुछ अर्थ मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी किये हैं, जैसे—

साराँग नयन वयन पुनि साराँग, साराँग तसु समदाने।

साराँग उपर उगल सद साराँग, केलि करचि मधु पाने॥

इसमें सारंग शब्द क्रमशः मृग, कोयल कामदेव, पद्म तथा भ्रमर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार यह कहना तो कठिन है कि सारंग शब्द सूरदास के समय तक

कितने-कितने अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ अर्थ विस्तार पा गया, और क्यों ? परंतु यह बात तो निर्विवाद है कि उन्होंने सारंग शब्द का जितने व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है, उतने व्यापक अर्थों में किसी ने नहीं किया। निम्न लिखित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी। अंक पद-संख्या के द्योतक हैं—

सारंग—आकाश, हाथी, सरोवर, मेघ, जल, खट्वांग, स्वर्ग, धनुष, वस्त्र या साड़ी (१), कमल, आनन्दमय, लाल कमल, सखी, केलि, चंद्रमा, रात्रि, कृष्ण, राधिका, दीपक, दम्पति (७), नारि, सरस, भ्रमर, कमल (१६), सर्प, विष्णु, बिगड़ी हुई (२२), स्वर्ण, हंस, चक्रवाक, शंख, केश, कामदेव, शोभा (२४), खंजन, कोयल, पद्मिनी जाति की नायिका, बिजली, वाण, सिंह, नदी (२६), मृग, अमृत, (५३), समुद्र, दिन-रात, आभरण, (६०), वीणा, एक राग (६६), पर्वत, सिंह (१००)।

इस सारंग शब्द को लेकर सूरदास ने कुछ यौगिक शब्दों की भी रचना की है और उनको पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयोग किया है, जैसे—

साँरग-गति—(२२) सर्प की चाल वाले, शीघ्र क्रोधित हो जाने वाले।

साँरग-धर—(२३) श्री कृष्ण।

साँरग-पति—(१, ३५, ६२, १००) श्री कृष्ण।

साँरग-रिपु—(१५) सूर्य। (१६) वस्त्र। (४८) घूँघट (८५) गरुण।

साँरग-सुत—(२४) भौंरे का बच्चा। (४३) चंद्रमा, काजल। (५३) हरिण का बच्चा। (८३) कमल।

साँरग-सुता—(१००) स्याही।

सूर ने साँरग शब्द से कम प्रयोग हरि शब्द का अनेकार्थ में किया है—

हरि—(२) श्री कृष्ण, (३६) सिंह, (४१) सूर्य, बंदर (६३), इंद्र मोर, मेघ, सूर्य, हरण करना (६६), पवन (१०१), हाथी, कामदेव। इससे बनने वाले यौगिक शब्द इस भाँति हैं—

हरि-तनया—(६३) यमुना।

हरि कौ तात—(६३) पवन।

हरि-दवन—(६३) भोग।

हरि-वाहन—(८१) वृक्ष।

हरि-भष—(६३) मास, महीना।

हरि-रिपु—(४१) क्रोध। (४२) मान।

हरि-सुत—(१०) गज-मुक्ता। (५८) कामदेव।

इसके अतिरिक्त सूरदास ने कृष्ण, राधा, शिव, चंद्रमा शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया है। इनमें से कुछ तो शब्द कोष के अनुसार पर्याय रूप में लिये गये हैं तथा कुछ दृष्टिकूट की पद्धति से बनाये गये हैं हम कुछ शब्दों को लेकर यह देखने की चेष्टा करेंगे कि इन शब्दों के कितने पर्याय हिंदी-शब्द कोश के अनूकुल हैं तथा कितने ऐसे शब्द हैं, जो उन्होंने दृष्टिकूट-प्रयोग के लिए गढ़े थे—

कृष्ण—(१) बलवीर ! (२) हरि। (४) मनमोहन, गोकुलनाथ। (१८) स्याम। ([illegible]) माधव। (२८) नंद-नँदन, (३४) गिरधर। (३६) श्रीपति। (४०) गोपाल। (४७) स्यामसुंदर। (५४) जदुपति।

दृष्टिकूटात्मक पद्धति से —

(१) सारँग-पति। (११) गिरि-सुत तिन पति। (२०) ब्रिजै-सखा (२१) पार्थ-मित्र। (३७) रबि-सारथी-सहोदर ता पति। (४०) दधि-सुत-पति। (४१) [illegible] पति। (५८) बारिज-सुत-पति, सिंधु सुता पति। (५६) भूमि-भवन-रिपु। (६६) गोपति-सुत। (७१) सारँग-रिपु सुत-सुहृद-पति। (८२) दादुर-रिपु-रिपु-पति। (८६) पच्छिराज सुनाथ।

राधा—(६) राधा। (६) बृषभानु-नंदनी। (२६) बृषभानु-किसोरी। (३१) स्यामा। (४७) राधिका।

दृष्टिकूटात्मक पद्धति से —

(३४) ब्रज-कुँवरि। (३६) सुता-दधि। (३७) उदधि-सुता। (८३) बहुत तपति जा रासि में सबिता ता तनया।

शिव—(१६) हर। (२१) पिनाकी। (५५) गिरजा-पति। (७६) उमा-पति। (८६) संभु।

दृष्टिकूटात्मक पद्धति से—

(२०) कुसुम-सर-रिपु। (२१) गिरि-सुता-पति। (५१) मेरु-सुता-पति। (५४) सिखर-बंधु। (७१) गिरि-तनया-पति। (८१) सारँग-रिपु वा रिपु। (८२) अलि-बाहन रिपु-बाहन। (८२) मारुत-सुत-पति-रिपु-पति। (८४) भूमि-धर-अरि-पिता, सिंधु-सुत-धर। (८६) भूषन-पितु-पितु-सेना-पति-पितु।

कामदेव—(११) मार (२०) कुसुम-सर। (५८) समर।

दृष्टिकूटात्मक पद्धति से—

(२१) मेरु-सुता-पति ताके पति-सुत। (५८) हरि-सुत। (५४) सिखर बंधु-अरि। (५४) गिरजा-पति-रिपु (६६) हरि-सुत-सुत। (७०) हर-रिपु। (३५) जल-सुत-सुत ताकौ रिपु-पति-सुत। (७५) कालनेमि-रिपु ताकौ रिपु। (७६) उमा-पतिहिं-रिपु। सारँग-रिपु ता पति-रिपु वा रिपु ता रिपु। (८१) अलि-बाहन-रिपु-बाहन-रिपु। (८४) भूमिधर-अरि-पिता-बैरी, सिंधु-सुत-धर सुहित सुत। (८६) भूषन-पितु-पितु-सेनापति-पितु ता अरि।

चंद्रमा— ५) ससि। (४३) राका-पति। (५६) उड़राज।

दृष्टिकूटात्मक पद्धति से—

(१८) छाया-पति। (४३) सारँग-सुत। (५४) धर-सुत-असन समय सुत। (५६) हर कौ तिलक। (७१) गिरि-तनया-पति-भूषन। (७७) सुरभी-सुत-पति ताकौ भूषन।

इस शब्द सूची से विदित होता है कि सूरदास ने सब से अधिक अर्थों में सारंग शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ तक कि कृष्ण शब्द के पर्याय भी उससे कम हैं। शिव को गिरि-तनया पति, सिंधु-सुत-धर अथवा सोमकार्तिकेय के पिता के रूप में ही लिया गया है, किन्तु कामदेव को शिव के बैरी के रूप में ही वर्णन किया गया है। एक दो स्थानों पर हरि-सुत अथवा हरि-हितु के रूप में भी कहा गया है, किन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि जहाँ कहीं भी व्यक्ति वाचक संज्ञात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है, वहाँ वे कथात्मक पद्धति से हैं और वह पौराणिक अथवा महाभारत से संबधित हैं। इससे जहाँ श्रोताओं को उस दृष्टिकूट के अर्थ को जानने की इच्छा होती होगी, वहाँ सूरदास को भी उसकी अंतर-कथा साथ अपने उपदेश करने के लिए वृहद् क्षेत्र मिलता होगा। उदाहरण के लिए हम सागर-सुता को लेतें हैं जिसे उन्होंने पृथक्-पृथक् पदों के साथ पृथक-पृथक् रूप में प्रयोग किया है—

पीतांबर की सोभा सखीरी, मोपै कही न जाई।
सागर सुता-पति-आयुध मानौं बन-रिपु-रिपु में देति दिखाई॥

(पद सं० १६)

दूसरे पद में—

दधि-सुता-सुत अवलि उर पर, इंद्र आयुध जानि।

(पद सं० २१)

तीसरे पद में—

सुता दधि-पति सौं क्रोध भरो।

(पद सं० ३६)

सागर-सुता या दधि-सुता के अनेकों अर्थ हो सकते हैं, चाहें वे प्रचलित हों अथवा अप्रचलित, किंतु अभिधामूलक व्यंग से रंभा, सीप, लक्ष्मी (राधा) का ही अर्थ होगा, किंतु इस अर्थ को लगाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उसे मूल स्थान का पता होना अवश्य होना चाहिये कि समुद्र से कौन-कौन वस्तु निकली हैं अथवा निकलती हैं और उनके पर्यायवाची शब्द क्या-क्या हैं। इसी प्रकार का ज्ञान कूटों के अर्थ करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

'कूट' सूर की आँखों से

सूर ने राधा-कृष्ण की केलि का वर्णन उसी प्रकार किया जिस प्रकार कालिदास ने शिव और पार्वती का अथवा जयदेव ने राधा-कृष्ण का किया है, किंतु सूरदास ने उस पर एक माया रूपी आवरण डाल दिया, जिससे वे जन साधारण की पहुँच के बाहर हो गए हैं। जो प्रिया-प्रीतम की केलि स्थली है वह सबके लिए खुली हुई नहीं है, वहाँ केवल अंतरंग सखियाँ ही प्रवेश कर पाती हैं। इन अंतरंग सखियों में केवल वे ही व्यक्ति आ सकते हैं, जिन पर प्रिया-प्रीतम का असीम अनुग्रह हो। वहाँ पहुँच कर वे उनकी लीला में सम्मलित हो जाते हैं और सांसारिक शब्दों में उनके सुख-दुख में भागीदार बन जाते हैं। राधा कृष्ण से मान करती है, सहचरी उनको मनाने जाती है। कृष्ण यदि कुपित हो जाते हैं, तो राधा की सखियाँ कृष्ण को मनाने पहुँच जाती है और दोनों के संघट्टन से केलि की रचना होती है। यह उनके नितांत एकांत की वस्तु है। वहाँ कोई नहीं रहता। केवल सूर ही उस वस्तु के द्रष्टा हैं जिसको उन्होंने सूम की संपत्ति की भाँति सांसारिक दृष्टि से बचाकर कूट के पीछे छिपा दिया है और वह केवल उन्हीं हृदयों की वस्तु रह जाती है, जो उसे सांसारिक विषय-वासना से परे समझ कर उसका महत्व समझ सकें। साहित्य-रसिकों की तो बात ही क्या वह तो (कवि सूर के नाते) उस कमल-पराग के अधिकारी हैं ही जो सूर की प्रतिभा से विकसित हुआ है।

चुन्नीलाल 'शेष'

सूर की बानी

राग भरी अनुराग भरी नव-
नाह निकुंज के नूर की बानी ।
धूर भरी पद पंकज की मृदु
मान गुमान के चूर की बानी ।।
पूर रही अलि गुंजन सौं मधु-
माधवी कुंज सरूर की बानी ।
सींच रही बसुधा पै सुधा
बरसाय सबै कबि 'सूर की बानी' ।।

—'शेष'

सूर के सौ कूट

सूर के सौ कूट

राग सारंग

हरै बलबीर-बिना को पीर ?

सारँग-पति प्रघटे सारँग तैं, जानि दीन पर भीर ॥
सारँग बिकल भयौ सारँग मैं सारँग तुल्य सरीर।
परयौ काम सारँग-बासी सौं, राखि लियौ बलबीर ॥
सारँग इक सारँग ह्वै लौट्यौ, सारँग ही के तीर।
सारँग-पानि राय ता ऊपर, गए परीच्छत कीर ॥
गहैं दुष्ट द्रुपदी कौ सारँग, नैननि बरसत नीर।
सूरदास प्रभु अधिक कृपा तैं, सारँग भयौ गँभीर ॥*

शब्दार्थ—बलबीर=कृष्ण। सारँग-पति=कृष्ण। सारँग=आकाश। भीर=विपत्ति। सारँग=हाथी, सरोवर, मेघ, जल। सारँग=भ्रमर, षट्पाँव=षट्वाँग। सारँग=स्वर्ग, सरोवर, धनुष, वस्त्र (साड़ी)। कीर=शुकदेव।

प्रसंग—सूरदास भगवान कृष्ण के असीम अनुग्रह का वर्णन कर रहे हैं।

भावार्थ—भगवान कृष्ण के बिना दुख को कौन दूर कर सकता है। अपने भक्तों पर विपत्ति पड़ने पर भगवान (स्वयं ही) आकाश (अंतरिक्ष) से प्रकट हो जाते हैं। (एक समय) मेघ सदृश (रंगवाले) हाथी का जल में रहनेवाले ग्राह से युद्ध हुआ, तब श्रीकृष्ण ने उसकी रक्षा की। राजा खट्वांग स्वर्ग से, सरोवर के किनारे, वापिस आ गये (और भगवान का नाम लेकर महूर्त भर में तर गये)। (यह कथा सुनकर) धनुषधारी राजा परीक्षित शुकदेवजी की शरण में गये। जब दुष्ट दुश्शासन ने द्रौपदी की साड़ी पकड़ ली (और उसे विवस्त्र

---

* ना. प्र. ११-३३

करना चाहा) तब उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। सूरदासजी कहते हैं कि भगवान के असीम अनुग्रह से उसका चीर अक्षय हो गया।

अलंकार—

१. अर्थान्तरन्यास—

'हरै बलबीर बिना को पीर ?' इस साधारण बात का समर्थन 'सारंग-पति-भीर' इस विशेष वाक्य से किया गया।

लक्षण

है अर्थान्तरन्यास, जहँ विशेष सामान्य दृढ़।
नृप कर पान पलास, ज्यौं पहुँचत संग पान के॥

(काव्य प्रभाकर)

२. उदाहरण—

उपर्युक्त 'सारँगपति ··· भीर' को सिद्धि करने के लिए निम्न तीन नमूना दिये हैं—

(अ) सारँग० ······ सरीर।
परयौ० ······ बलवीर॥
(ब) सारँग० ······ तीर।
सारँग० ······ कीर॥
(स) गई० ······ नीर।
सूरदास० ······ गँभीर॥

उक्त तीनों वाक्यों में से किसी एक का भी 'सारंग-पति ··· भीर' से बिंब प्रतिबिंब भाव, उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म में न होने से तथा उसके पृष्ठ-पोषण स्वरूप तीन नमूने उपस्थित करने से उदाहरण अलंकार है। इसमें एक साथ कई उदाहरण दिये गये हैं। इसलिए हम इसे उदाहरण-माला भी कह सकते हैं।

३. यमक—

सारंग शब्द की आवृत्ति अनेक बार, अनेकार्थ में होने से यमकालंकार है।

लक्षण—

दो०—यमक सब्द कौ पुनि स्रवन, अर्थ जुदौ ह्वै जाय।
सीतल चंदन चंदनहिं, अधिक अन्य तैं ताय॥

(काव्य-प्रभाकर)

रस—शांत रस।

टिप्पणी—

(१) सारँग०···बलबीर—श्रीमद्भागवत में 'गजेन्द्र-मोक्ष' नाम की एक कथा है। उसमें कहा है कि एक हाथी, जब अपनी हथनियों को साथ लेकर, एक सरोवर में क्रीड़ा कर रहा था, तभी एक ग्राह ने आकर उसका पैर पकड़ लिया और उसको खींचकर जल की ओर ले जाने लगा। हाथी अपना पैर छुड़ाने के लिए ग्राह को पृथ्वी की ओर खींचता था तथा ग्राह जल की ओर। इस प्रकार युद्ध करते हुए सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो गये। गज का बल क्षीण होने लगा और उसे प्रतीत होने लगा कि उसका अंत निकट है। उसी समय उसने अपनी सूँड़ में लेकर एक कमल भगवान को अर्पण करते हुए उनसे प्राथना की। भगवान ने तुरंत ही प्रकट होकर नक्र (मगर) को चक्र से काट दिया और ग्राह को मुक्ति दी। सूरदास ने एक स्थल पर लिखा है—

'गज और ग्राह लड़े जल-भीतर ग्राह परम गति पाई।'

(२) गहैं····गँभीर—महाभारत में लिखा है कि जब युधिष्ठिर कौरवों से जूए में अपनी समस्त संपदा सहित द्रौपदी को भी हार गये, तब दुष्ट दुश्शासन ने उस रजस्वला, एक वस्त्रा पांचाली को सभा के बीच में लाकर नग्न करना चाहा। उसने कातर दृष्टि से चारों ओर देखा परंतु कोई रक्षक न दिखाई दिया। अंत में द्रौपदी ने भगवान कृष्ण से लौ लगायी और उन्होंने उसकी साड़ी बढ़ा कर उसे अक्षयता प्रदान की। सूरदास ने लिखा है—

ठाड़ी कृष्न, कृष्न यौं बोलै।
जैसैं कोऊ बिपति परे मैं, दूरि धरयौ धन खोलै॥
पकरयौ चीर दुष्ट दुस्सासन, बिलख बदन भई डोलै।
जैसैं राहु नीच ढिग आएँ, चंद्र किरन झकझोलै॥
जाके मींत नंद-नंदन से, ढकि लई पीत पटोलै।
सूरदास ताकौं डर काकौ, हरि गिरधर के ओलै॥

(ना० प्र० ८२-२५६)

(२) सारँग····तीर—राजा खट्वांग के बिषय में सूरसागर में लिखा है—

हरि-प्रस-कथा सुनौ चितलाई। जो षट्वांग तरयौ गुन गाई॥

❀

इक दिन इंद्र तासु घर आयौ। राजा उठ कर सीस नवायौ॥

❀

इंद्र कह्यौ मम करौ सहाई। असुरन सौं है हमैं लराई॥

❀

सुरपति सौं उन आज्ञा माँगी। उन कह्यौ, लेहु कछू बर माँगी॥
नृपति कह्यौ, कहौ मेरी आइ। बर लैहौं पुनि सीस चढ़ाइ॥
दोइ महूरत आयु बताई। नृप बोल्यौ तब सीस नबाई॥

❀

एक महूरत मैं घर आयौ। एक महूरत हरि-गुन गायौ॥
हरि-गुन गाइ परम पद लह्यौ। सूर नृपति सुनि धीरज गह्यौ॥

(ना० प्र० ११४-३४३)

(२)

राग बिलावल

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियौ।
खगपति-अरि डर, असुरनि-संका[1], बासर-पति आनंद कियौ॥
बिदुखि सिंधु[2] सकुचति, सिब सोचत, गरलादिक किम[3] जात पियौ?
अति अनुराग संग कमला-तन, प्रफुलित अँग न समात हियौ॥
एकनि दुख एकनि सुख उपजति, ऐसौ कौन बिनोद कियौ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे[4] गहति ही, एक-एक तैं होत बियौ॥*

शब्दार्थ—दधि-रिपु = दधि का शत्रु मथना और समुद्र का शत्रु मंदराचल जिसको रई (मथना) बना कर समुद्र मथा गया था। खगपति-अरि = खगपति गरुड़, उसका शत्रु सर्प=बासुकि। बासर-पति=दिन का स्वामी सूर्य। कमला= लक्ष्मी। बियौ=अलग, पृथक्।

प्रसंग—जब भगवान बालकृष्ण ने दूध बिलोने की रई (मथना) अपने हाथ ली, तभी देवताओं को समुद्र-मंथन की याद आ गई। उसी प्रसंग को लेकर सूरदास ने इस कूट की रचना की है।

भावार्थ—जब कृष्ण ने रई (मथना) अपने हाथ में ली तभी बासुकि नाग के हृदय में डर उत्पन्न हुआ (समुद्र मंथन समय बासुकि नाग की नेति बनाई गई थी, जिससे उसे अपार कष्ट हुआ था)। दैत्यों को शंका हुई। (समुद-मंथन के

पा०—बाल. (१) सरले संकत (२) बिधि ससि मुनि (३) कैसे (४) तिहारे
* ना. प्र. ३१०-७६१। बाल. ५६-४४

समय दैत्यों को अमृत का लालच देकर उन्हें मंथन कार्य में लगा दिया गय, किंतु उन्हें भगवान ने छल कर एक बूंद भी सुधा की नहीं दी। इससे उन्हें शंका हुई कि कहीं फिर तो हमारे साथ छल करने को यह समुद्र-मंथन की तैय्यारी नहीं कर रहे) ! सूर्य को आनंद हुआ। (उसने सोचा कि मेरा राहु के ग्रहण का काल समाप्त हुआ)। संकोच से समुद्र दुखी होता है (इसलिए कि अब उसके पास वैसे रत्न कहाँ है।) शिवजी विचार करते हैं कि मुझसे अब विष किस प्रकार पिया जावेगा। लक्ष्मी प्रेम में मगन हैं और प्रसन्नता से फूली नहीं समाती। (वह सोचती हैं कि मैं अब भगवान के पास पहुँच जाऊँगी।) सूरदास कहते है कि हे प्रभो! यह आपका कैसा विनोद है जिससे किसी को दुख और किसी को सुख होता है और तुम्हारे रई (मथना) के पकड़ते ही सब पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।
अलंकार—

१. शब्द-श्लेष—

'दधि-रिपु'—यहाँ दधि शब्द का अर्थ दूध और समुद्र दोनों ही सार्थक हैं तथा रिपु शब्द के योग से एक का अर्थ रई (मथना) तथा दूसरे का अर्थ मंदराचल हो जाता है, किंतु यदि हम दधि शब्द के स्थान पर और कोई शब्द रखते हैं तो उसमें भिन्न अर्थ देने की शक्ति नहीं रहती। इसलिए यह शब्द-श्लेष है।
लक्षण—

'श्लेष शब्द पलटे बिना और हु अर्थ सुधार'
(काव्य-प्रभाकर)

२. स्मृति—

श्री कृष्ण के रई (मथना) हाथ में लेते ही दैत्य और देवताओं को समुद्र-मंथन की याद आगई। इसलिए यहाँ स्मृति-अलंकार है।
लक्षण—

"सदस वस्तु लखि सदस की सुधि आवै जिहिं ठौर।"
(काव्य-प्रभाकर)

३. अक्रमातिशयोक्ति—

'दधि-रिपु के हाथ में लेते ही' कारण से दैत्य और देवताओं को समुद्र-मंथन रूपी कार्य की स्मृति हुई।
लक्षण—

'अक्रमातिसयोक्ति जँह, कारन कारज संग।'

४. प्रथम उल्लेख—

यहाँ दैत्य, देवता, शिव और लक्ष्मी ने एक ही कार्य को भिन्न-भिन्न रूप से समझा। लक्षण—

सो उल्लेख जु एक कौं, बहु समझैं बहु-रीत।
जावक सुर-तरु तिय मदन, अरि कौं काल प्रतीत॥

(काव्य-प्रभाकर)

टिप्पणी—

(१) जब······लियौ। एक समय दुर्वासा ऋषि भगवान के दर्शन कर वापिस आरहे थे तो मार्ग में उन्हें इंद्र मिले। इंद्र के प्रणाम करने पर दुर्वासा ने भगवान की प्रसादी माला इंद्र को दी। इन्द्र ने प्रमाद-बस माला को हाथी के मस्तक पर डाल दिया। हाथी ने सहज स्वभाव, माला सूंड़ में लेकर पैरों से रौंद डाली। दुर्वासा ने इंद्र को शाप दिया कि तेरा समस्त वैभव नाश हो जायगा। हुआ भी ऐसा ही। देवता भगवान की शरण में गये। भगवान ने आज्ञा दी कि तुम दैत्यों से मिलकर समुद्र-मंथन करो; मैं तुम्हारी सहायता करूंगा। देवताओं ने ऐसा ही किया। मंदराचल पर्वत को रई (मथना) बनाया गया और वासुकि नाग को नेति (डोरी) बनाकर दैत्यों की सहायता से समुद्र मथा जाने लगा जिससे चौदह रत्न निकले। उनके नाम ये हैं—

श्री, मनि, रंभा, बारुनी, अमिय, संख, गजराज।
धनु, धन्वंतरि, धेंनु, ससि, कल्पद्रुम, बिष, बाज॥

इन रत्नों को दैत्य और देवताओं ने आपस में बाँट लिये, किन्तु उत्तम वस्तु देवताओं को ही मिलीं। यहाँ तक कि अमृत की एक बूंद भी दैत्यों को न मिली। जिस समय भगवान मोहिनी रूप में देवताओं को अमृत पिला रहे थे, उसी समय राहू, देवता का रूप बना कर देवताओं की पंक्ति में आ बैठा और अमृत पान करने लगा। चंद्र और सूर्य ने उसकी चुगली की। भगवान ने उसका सिर चक्र से काट लिया। परंतु वह अमृत पीकर अमर हो गया। इसलिए दो भाग हो जाने पर भी वह जीवित रहा। सिर राहू और धड़ केतु कहलाया। जब यही राहू समय पाकर अपना बैर चुकाने को सूर्य और चन्द्र को ग्रसता है, तभी ग्रहण पड़ता है।

(२) खग-पति-अरि— पुराणों में लिखा है कि कश्यप ऋषि के दो पत्नियाँ थीं। एक समय विनता और कद्रू में यह विवाद चला, कि सूर्य के घोड़ों का

रंग कैसा है। विनता ने स्वेत और कद्रू ने काला बताया। विनता और कद्रू में यह होड़ हो गई कि यदि रंग उनके कहे अनुसार न हुआ तो विजित को विजेता की दासी होना पड़ेगा। कद्रू के पुत्र सर्प, सूर्य के स्वेत घोड़ों से लिपट गये जिससे वह काले दीखने लगे और विनता को दासी होना पड़ा। जब गरुड़ उत्पन्न हुए और उनको इस छल का पता लगा तो वह क्रोधित हो सर्पों को खाने लगे और तभी से उनमें बराबर शत्रुता चली आ रही है।

(महाभारत आदि पर्व २०, १-१६)

(३)

राग बिलावल

देखौ माई, दधि-सुत मैं दधि जात।
एक अचंभौ देखि सखी-री, रिपु मैं रिपु जु समात॥
दधि पर कीर[1], कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यै सोभा देखत[2] पसु-पालक, फूले अंग न मात॥
बारंबार बिलोकि सोच चित[3], नंद महर मुसकात।
यहै ध्यान मन आन स्याम कौ[4], सूरदास बलि जात॥*

शब्दार्थ—दधि-सुत = (उदधि = समुद्र + सुत = पुत्र) समुद्र का पुत्र चंद्रमा। **दधि जात**=माखन, समुद्र में जाते हुए। **अचंभौ**=आश्चर्य। **रिपु**=शत्रु। **रिपु······मात** = मुख चंद्रमा में हाथ रूपी सर्प, सोई राहू को ग्रास कर रहा है। **कीर** = तोता, नासिका। **पंकज** = कमल, नेत्र-कमल। **पंकज के द्वै पात** = कमल के दो पत्ता अर्थात् दो कान। पसु-पालक = ग्वाल। **महर** = मुखिया।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से। श्री कृष्ण हाथ में लेकर मक्खन खा रहे हैं, यह उसी का वर्णन है।

भावार्थ—हे सखी! मैंने दधि-सुत में दधि जात देखा अथवा दधि सुत में दधि जाते हुए देखा, अर्थात् मुख में माखन देखा अथवा चंद्रमा में समुद्र

पा०—(१) बाल०, नव., बर्षो. तापर कीर। (२) बाल., अचरंज यहै देखि। बाल., — सुंदर बदन बिलोकि स्याम कौ) (४) बाल, वै., ऐसो ध्यान धरै जो हरि कौ।

* ना. प्र. ३७६-७६० । वें० १२१-५१ । नव. १७०-१०३ । बर्षो. १६५-३५ । रा. क. द्वि. भा. १६७-४० । दि. ६८- ३०, १५१, ५७६ । आ. २२६-६, २५०-८४ । पो. १४६-६४ । कां. ४६-६७६, २ ३१८-१३८८ । बाल. ६-४

जाते हुए देखा (चंद्रमा की उत्पत्ति समुद्र से है इसलिए यदि समुद्र में चंद्रमा चला जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं किंतु आज चंद्रमा में समुद्र चला जा रहा है यही आश्चर्य है) । एक आश्चर्य यह भी है कि शत्रु को शत्रु ग्रस रहा है (चंद्रमा और राहू में शत्रुता है और समय पाकर राहू चंद्रमा को ग्रस लेता है किन्तु आज आश्चर्य यही है कि राहू को चंद्रमा ग्रस रहा है), अर्थात् हाथ में मक्खन लेकर मुख में खा रहे हैं। मुख-चंद्र पर शुक जैसी नासिका है, नासिका के ऊपर नेत्र कमल हैं और उनके समीप कमल-पत्र सदृश दो कान हैं। इस शोभा को देखकर ग्वाल फूले नहीं समाते और नन्द जी कृष्ण का सुंदर मुख देखकर मंद मंद हँस रहे हैं। इस प्रकार का ध्यान मन में आते ही सूरदास बलिहारी जाते हैं।

अलंकार—

रूपकातिशयोक्ति—

कीर, पंकज, पंकज के द्वै पात—ये केवल उपमान ही उपमान हैं। उपमेय, साधारण धर्म और वाचक का पूर्ण आभाव होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

लक्षण—

रूपकातिसयोक्ति जहँ, केवल ही उपमान।
कनक-लता पै चंद्रमा धरै धनुष द्वै बान॥
(काव्य-प्रभाकर)

रस—वात्सल्य रस।

टिप्पणी—

बालकिशन ने "रिपु में रिपु जु मात या-समात' का अर्थ चंद्रमा और कमल लिया है तथा "मुख चंद में दधि जो दह्यौ जात है। हस्त कमल सों अरोगत हैं। सो चंद्रमा सों कमल सों परस्पर रिपु हैं तथापि मुख-चंद्र में कर कमल समात हैं आश्चर्य यह है" यह अर्थ किया है। परंतु इसमें आश्चर्य नहीं बनता, क्योंकि कमल चंद्रमा से कोमल है। इसलिए उसका ग्रसा जाना उतना आश्चर्यजनक नहीं जितना कि चंद्रमा का राहू को ग्रसना। आगे 'पंकज के द्वै पात का अर्थ' 'केसर-खोरि' कमल-पत्रिका किया है, जो सुंदर है। क्योंकि खोरि दो लकीरों के रूप में पत्राकार लगाई जाती है, वह 'पंकज के द्वै पात' भी हो सकती है। किंतु यह उपमा ठीक नहीं। क्योंकि खोरि स्त्री लिंग है, पात पुल्लिंग। स्त्री लिंग को पुल्लिंग की उपमा नहीं दी जाती। अतः हमारी सम्मति में आकारादि से कान उपमेय मानना ही उचित है।

(४)

राग धनाश्री

दधि-सुत जामैं[1] नंद-दुवार ।
निरखि नैन अरुझ्यौ मनमोहन, रटत देहु कर बारंबार ॥
दीरघ मोल कह्यौ ब्यौपरी, रहे ठगे सब कौतुक हार ।
कर ऊपर लै राखि रहे हरि, देत न मुक्ता परम सुढ़ार ॥
गोकुलनाथ बए जसुमति के आँगन भीतर, भवन मझाँर ।
साखा-पत्र भए जल मेलत, फूलत फरत[2] न लागी बार ॥
जानत नहीं मरम सुर-नर-मुनि, ब्रह्मादिक नहिं परत बिचार ।
सूरदास प्रभु की यै लीला, ब्रज बनिता पहिरैं[3] गुहि हार ॥*

शब्दार्थ—दधि-सुत = समुद्र का पुत्र मुक्ता, मुक्त पुरुष । जामैं = उत्पन्न होते हैं । दीरघ मोल = बड़े दाम के मूल्यवान । बए = बो दिये ।

प्रसंग—श्री कृष्ण के बाल्यकाल में मुक्ता विक्रेता की कथा ।

भावार्थ—(१) नंद के महलों में मुक्ता विक्रेता आये । उन मनमोहक मुक्ताओं को देखकर मनमोहन श्रीकृष्ण बारंबार लेने के लिए हठ करने लगे । (मुक्ताओं का दाम पूछने पर) व्यापारी ने मुक्ता के बड़े दाम माँगे जिसे सुनकर देखने वाले ठगे से खड़े रह गये (उस व्यापारी के हाथ से कृष्ण ने वह मुक्ता अपने हाथ में ले लिये) । श्री कृष्ण ने उन सुंदर मुक्ताओं को अपने हाथ पर रख लिया और माँगने पर भी (मुक्ता विक्रेताओं को) वापिस नहीं दिया । उन्होंने यशोदा के महलों के आँगन में उन्हें बो दिया । पानी देते ही उनमें शाखा और पत्ते निकल आये और फूलते-फलते भी उन्हें देर नहीं लगी । जिनके रहस्य को देवता, मनुष्य और मुनि भी नहीं जानते तथा जो ब्रह्मादिक के ध्यान में भी नहीं आते, ऐसे भगवान श्री कृष्णकी यह लीला है कि गोपियों ने भी उसके हार बना कर धारण कर लिये ।

इस पद का दृष्टिकूट विवेचन इस प्रकार है—

मुक्ति देने वाले (अर्थात् ऐसे व्यक्ति जो यह दावा करते थे कि मुक्ति पर हमारा अधिकार है और हम ही मुक्ति दिला सकते हैं) नंद के घर आते हैं, वहाँ

पा०—(१) ना प्र. जामे । (२) वें. फलत । (३) बें. पहिरै ।

* ना. प्र. ३१६– ६ । वें. १२१–५२ । नव. २४७–१०७ । दि० ५६–३३० । आ. १३२–७ । कां. १४६–६७७ । बाल., ४–२ ।

वह मुक्ति की बात चलाते हैं, जिसको सुनकर कृष्ण जी भी विमोहित होकर उसके लेने की इच्छा करने लगे, परंतु मुक्ति किस प्रकार मिल सकती है और उसके पाने के लिए उसका क्या मूल्य चुकाना होगा, तो उन व्यापारियों ने उसका बड़ा मूल्य बताया, अर्थात् योग, यज्ञ और तप इत्यादि के अनेक दुष्कर मार्ग बताकर मुक्ति को पाना अत्यंत कठिन बताया। भगवान् श्रीष्ण ने उस मुक्ति पर अपना अधिकार कर लिया और उसे मुक्ता विक्रेताओं को वापिस नहीं दी (व्यापारी कहने का तात्पर्य यही है कि यज्ञ इत्यादि के नाम पर जो धर्म का व्यापार करते थे।) और विमोहित होकर उसे देखने लगे, अर्थात् अभी तक इन व्यापारियों ने, जिस मुक्ति को कुछ व्यक्तियों के हाथ की बात बता कर, अपने अधिकार में कर लिया था, उस मुक्ति को भगवान ने अपने हाथ में ले लिया। इसका आशय यह है कि भगवान के अनुग्रह-द्वारा ही मुक्ति प्राप्त का साधन बना दि्‌या गया, यज्ञ इत्यादि-द्वारा नहीं, जिससे मुक्तिका सौदा होता था कि इतना दोगे तो इतना मिलेगा और वह मुक्ति, भक्ति रूपी जल मे सींचने से नंद के आंगन में प्राप्त होने लगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अभी तक मुक्ति प्राप्ति के लिए घर को छोड़कर वैराग्य लेना अथवा यज्ञ इत्यादि साधन आवश्यक थे, किंतु अब ग्रहस्थ में रह कर ही भगवान की भक्ति करने से मुक्ति प्राप्त होने लगी। जिस बात का रहस्य ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जानते, उसको यह प्रभू की लीला है कि सब भाँति मूर्ख और वेद-विधियों से अज्ञ गोपियाँ (नारियाँ) भी मुक्ति को प्राप्त कर रही हैं। वेदों में लिखा है कि नारी मुक्ति की अधिकारणी नहीं है, किंतु भगवन कृष्ण ने बताया कि भक्ति-द्वारा किसी को भी मुक्ति मिल सकती है।

अलंकार—

(१) परिवृति—

थोड़ी सी भक्ति से 'सुर नर-मुनि-दुर्लभ मुक्ति' को प्राप्त करना।

लक्षण—

परिवर्तन उल्टौ अहै, कछु देके बहु लेय।
लेत सम्पदा सम्भु की, बेल पत्र इक देय॥

(काव्य-प्रभाकर)

(२) **अक्रमातिशयोक्ति—**

'साखा पत्र भये जल मेलत' इस में जल मेलना रूपी कारण के साथ ही साखा पत्र होना रूपी कार्य हो गया।

रस—शांत रस ।

टिप्पणी—

१—बालकिशन ने इसका निम्नलिखित पाठ तथा अर्थ दिया है—

राग बिलावल

दधि सुत जम्यो नंदके द्वार ।

कर पल्लव हीं टेकि रह्यौ सब, सौ सुत अरुभ्यो द्वार हि द्वार ॥ १ ॥
साखा पत्र जसोमति के ग्रह, फूलत-फलत न लागी बार ।
ताके मोलन गन गंर्धव मुनि, ब्रह्म रुद्र श्रुति करहिं बिचार ॥ २ ॥
दीन बचन बोलत ब्यौपारी, रहे ठगे तहाँ मनहीं मझार ।
सूरदास बलि जाय तिहारी, बृजबनिता कीने उर हार ॥ ३ ॥

अर्थ । श्री ठाकुर जी श्री नंदरायजी के ग्रह जन्म लेके सबन को आनंद कों नंद कों अनुभव करवाये । ताको वर्नन वृक्ष रूप करिके सूरदास जी गान करते हैं । दधिजो समुद्र ताको सुत तहाँ ते उत्पन्न भयो जो मुक्ता फल जम्यो नंद के द्वार । जैसे वृक्ष जमे ते फलताँई को अनुभव होय इतै से जम्यौ । इहाँ यह प्रश्न आयो जो वृक्ष रूप करि के वर्नन करने हैं तो साक्षात् दधि सुत जो कल्पवृक्ष उचित समान ताकों छोड़ि मुक्ताफल को वृक्ष असंभव को रूपक सूरदास जी ने क्यों कहे । तहाँ कहते हैं, जो सूरदासजी ने विचार किए जो यह प्रागट्य है सो केवल अलौकिक है । अजन्मा को जन्म है कल्पवृक्ष है सो यद्यपि इष्ट कल्पनाको देत है, तामें अनिष्ट कल्पना कदाचित होय आवे सो हू दे डारै । ऐसौ जड़ है और लौकिक है तऊ अलौकिक धर्म को उपलक्षण होय सकत है । तातैं सूरदासजी ने मुक्ताफल को वृक्ष करि वर्नन किये । मुक्ताफल कों जैसे वृक्ष होत नहीं । ये भयौ या भाँति वर्नन कियो । याकरि अजन्माको जन्म भयौ यह जनाये मुक्त जीवन के फल रूप हैं तातें मुक्ताफल ही कों कहे और मुक्ताफल जैसे समुद्र में प्राप्त होत हैं तैसे एहू क्षीर समुद्र ते पधारे हैं । मुक्ता फल को वृक्ष हो तो पूरन पुन्य तें अलभ्य लाभ भयो । ताके आनन्द को पारावार नहीं । यह आनंद बाह्याभ्यांतर सब ठौर प्रवर्त्यौं तातैं नंद के द्वार कहे— "आनंद आज नंद के द्वार" उक्तवत् । आगे कोमल वृद्धि भई । जैसे वृक्ष मृदुल डार पल्लव कछुक वृद्धि होय तब वाको टेका देके उठावै हैं । तैसे इनहूँ कों बृज सीमंतनी आय-आय कें परस्पर उठाय लेत हैं तैसे ही कर पल्लवनि सों श्रीकंठ

कों, हस्तन कों, चरनन कों टेकि के, सम्हारि के, परस्पर लेत हैं। ता पाछे जैसे वृक्ष जब आछी भाँति बढ़ै, विस्तार कों पावै तैसे एहू कुमार अवस्था, पौगंड अवस्था को अंगीकार करि-करि घर-घर बृज में षेलिवे कों पधारत हैं। दधि चोरी लीला कों पधारत हैं। बृज भक्त हूँ कैयौं मिस करि पधरायबे जात हैं। तातैं मूल में कहे जो—"सो सुत अरुभयो द्वारहि द्वार"। अथवा ब्रह्मा नें वत्सा हरन कियो तब वत्स तथा गोप के बालक तथा छींके, श्रंग, वेणु, वेत्रादिक सब आप ही भये ॥१॥ या भाँति श्री यशोदा जी के ग्रह में शाखा, पत्र, फूल, फल ह्वैवे कौं रंच हूँ विलंब भई नहीं। इहाँ शाखा सों श्री अंग, पत्र सों डहडही शोभा, फूल सों अत्यंन्त आनंद, फल सों चिंतित मनोरथ। समग्र बृज के जड़ जंगम के पूर्न भये छन-छन के मनोरथ सिद्ध भये। स्वरूपानन्द को अनुभव ये ही परम फल जानियें। तातें मूल में—"न लागी बार" कहे हैं। और वेद तथा ब्रह्म-रुद्रादिक सब मिलि के विचार करत हैं, परन्तु काहू सों वा मुक्ताफल को मोल न ह्वै सक्यो। याकरि अनंनता, तथा अद्वैतता व्यंजित भयौ ॥२॥ अब या मोती के जे व्यौपारी भक्त जन ते परस्पर जिनके ये ही व्यवहार हैं। तासों महल्लाभ करि पुष्ट हैं। तथापि दैन्यता के वचन बोलत हैं॥ काहे ते जो या व्यवहार ते तृप्ती नहीं होत है और लौकिक वैदिक सब याके आगे भूलि रहे हैं। रहे ठगे से मन करिकैं। सर्वोत्कर्ष लाभ कों पायके। और वा मुक्ताफल कों बृज बनितान हीं उर के हार करि लिये हैं। औरन कों तो दर्शन मात्र है, बृज भक्तन के भूषन हैं। ऐसो जो मुक्ताफल तिन पर सूरदासजी बलिहारि करते हैं।"

२—इस पद में मर्यादा और पुष्टि-मार्ग का बड़ा सुंदर ढंग से अंतर समझाया गया है। मर्यादा अथवा वैदिक मार्ग पर चलने वाले यज्ञ इत्यादि को अथवा अपने शुभाशुभ कामों को मुक्ति का साधन मानते हैं। इस लिए वह एक व्यापार है, किंतु पुष्टिमार्ग वाले भगवान के अनुग्रह को ही मुक्ति का साधन बताते हैं, जो प्रेम-द्वारा सहज ही में प्राप्त हो जाती है।

(५)

राग मलार

जब हरि, मुरली अधर धरी।

ग्रह-ब्यौहार तजे[१] आरज-पथ, चलत न संक[२] करी॥

पा०—बाल० (१) बिसरिं (२) संक निसंक

पद-रिपु पट अटक्यौ, अति आतुर उलट न[1] पलट खरी ।
सिव-सुत-बाहन आन[2] मिले हैं, मन चित-बुद्धि[3] हरी ॥
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी ।
उड़पति, बिद्रुम, बिंब खिसाने, दामिनि अधिक डरी ॥
मिलि हैं स्यामहिं हंस-सुता तट आनंद-उमंगि भरी ।
सूर स्याम कौं मिली[4] परस्पर, प्रेम प्रबाह[5] ढरी ॥*

शब्दार्थ—आरज-पथ = लोक और वेद की रीति । पद-रिपु = कंटक, कांटे । सिव-सुत-बाहन = शिव-सुत-कार्तिकेय का बाहन मोर । सारँग = स्त्री, मृग, हंस, सिंह । हंस-सुता = हंस-सूर्य, सुता-यमुना ।

प्रसंग—कृष्ण की मुरली की ध्वनि सुन कर गोपी (या राधा) ग्रह कार्य छोड़ कर यमुना तट पहुँच गई । यह उसीका वर्णन है ।

भावार्थ—जब कृष्ण ने मुरली अपने अधर पर रख बजाई, तभी गोपी (उसको सुनकर) ग्रह-कार्य त्याग कर तथा लोक और वेद की रीति का उलंघन कर संकोच-रहित होकर घर से चलदी । (मार्ग के) काँटों में उसका वस्त्र उलझ कर फट गया, किंतु आतुरता के कारण वह उसे छुड़ाने को नहीं लौटी (इससे उनका वस्त्र फट गया और मुख पूर्ण रूप से दिखाई देने लगा, इसका प्रभाव कवि ने आगे वर्णन किया है) । वहाँ ऐसे मोर मिले--जिनकी मन, चित्त और बुद्धि का हरण हो गया, अर्थात् उन्हें वेणी में व्याली का भ्रम हो गया तथा बुद्धि ने भी उसका साथ देकर यह नहीं बताया कि यह व्याली नहीं, वेणी है । शुक, कपोत, भ्रमर और कोकिल छिप गये क्योंकि नायिका की नासिका, कंठ, केश और वाणी के आगे उनकी सुंदरता फीकी पड़ गई । सारँग, अर्थात् मृग, सिंह और हंस को आत्म विस्मृति हो गई, अर्थात् नायिका के नेत्र, कटि और गति को देख कर वह अपने नेत्रों, कटि और गति की सुंदरता को भूल गये । चंद्रमा, विद्रुम और बिंबाफल नायिका के मुख, अधर और मसूड़ों को देखकर खिसिया गये तथा बिजली भय से डरकर अधिक तड़पने लगी (बिजली को यह भय हुआ कि नायिका के हास्य की तुलना में हीन होने से कवि लोग हास्य में उसका प्रयोग नहीं करेंगे) । श्री कृष्ण यमुना-किनारे मिलेंगे, इससे वह उमंग से आनंद में भर गई और स्याम से परस्पर मिल कर प्रेम प्रवाह में बह गई ।

पा०—बाल. (१) उलटत (२) रबकि (३) बुधि बिधि सकल (४) सूरदास प्रभु बिहरि (५) प्रेम पियूष।

* ना. प्र. ४६३–१२७७ । बाल० ६५–५० ।

अलंकार—

(१) भ्रान्तमान्—

सिव०...हरी। यहाँ (ध्वनि द्वारा) मोरों को वेणी में व्यालि की भ्रान्ति हो गई। इस लिए भ्रांतमान् अलंकार हुआ।

लक्षण—

भ्रांतीं औरैं और की, जब जिय निहचै होय।
भ्रांतिमान् अलंकार तँह, भाखत हैं सब कोय।

(२) अक्रमातिशयोक्ति—

यहाँ मुरली को अधर पर रखना रूपी कारण तथा आरजपंथ-त्याग रूपी कार्य एक साथ ही हुआ।

(३) प्रतीप—

'उड़पति, बिद्रुम, बिंब खिसाने, सारंग सुधि बिसरी'' । यहाँ उपमेय से उपमान में हीनता दिखाई है।

रस—शृंगार रस, नायिका—अभिसारिका।

प्रिय से मिलने के लिए संकेत स्थल पर जाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है।

टिप्पणी—

१—ग्रह०..........करी।

मथुरा निवासी कृष्ण कवि (किशनलाल शतरंज-मास्टर) ने इसका विषद वर्णन अपने कवित्त में इस भाँति किया है—

बैठी ब्रज-बनिता बिलोवै दही माखन कौं,
आँनद उमँगि भरी सुख सरसावै है।
एकाएक चित्त में खयाल कछु औरें भयौ,
रूपक निहारि कवि उपमा न पावै है।
रई-तोड़, हाड़ी फोड़, सुत-पति दोनों छोड़,
जैसे बरसा की नदी सिंधु पास जावै है।
भूषन जड़ाब अंग पहिर कहूँ के कहूँ,
कहत चलीं यौं कान्ह बाँसुरी बजावै है॥

२—बिहारी की नायिका तो भली भाँति जानती है कि 'मुरली-सुर-लीन' होकर कोई भी कुल गली (आरज-पंथ) में नहीं रह सकती, तभी तो वह कहती है—

किती न गोकुल कुल-बधू, काहि न किहि सिख दींन।
कौनैं तजी न कुल गली, ह्वै मुरली-सुर लींन ॥

३—एक कवि की नायिका तो इन्हीं मन, चित, बुद्धि हरण किये हुए मोर, चकोर और भौंरों के कारण प्रीतम के पास नहीं जा रही है। संभवतः उसके प्रेम में वह वेग नहीं, जो सूरदास की नायिका में है—

मेरे मुख चाहि एक चुनगी चुगत आवै,
एकन कौं आप गहै बैनी के दावरी।
एकन के सांसन उसास लैंन पावत न,
गुंजै आस पास हौं न जानौं गुन चावरी ॥
तू तौ परी गौंहन के बेग चलौ मोहन पै,
मान मेरी बात ऐती अधिक उपावरी।
बावरे चकोरन कौं, दई मारे मोरन कौं,
मंद मति भौंरन कौं दूर करि आवरी ॥

(४) मुरली—'मुरली' की गणना 'सुषिर वाद्यों' के अंतर्गत की जाती है, जिसका उल्लेख संगीत-रत्नाकर, संगीत-दामोदर और संगीत-पारिजात में आता है। यह बाँस की बनी हुई होने के कारण बाँसुरी भी कहलाती है। इसी के अन्य भेद—वेणु, वंशी, पावा, पाविका, पत्रिका इत्यादि भी हैं, जो अपने स्वरूप भेद के कारण भिन्न-भिन्न नामों से प्रख्यात हैं। सूरदास ने बाँसुरी (बाँसुरी बिधि हू तैं प्रबीन) बंसी (जब तैं बंसी स्रवन परी), बेनु (चलीं बन बेनु सुनत सब धाइ) और मुरली (मुरली तऊ गुपालै भावै) शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। किंतु कुछ लोगों का विचार है कि इस नाम भेद में भी स्वरूप भेद है। साधारणतः बाँसुरी की लंबाई दस अंगुल से एक हाथ तक होती है तथा छह से आठ तक स्वर-छिद्र होते हैं। सात और आठ छेद वाली मुरली में एक छेद पीछे की ओर भी होता है। बाँस की पोर के दूसरी ओर दो अंगुल स्थान छोड़ कर एक और छिद्र होता है, जिसमें मुख-द्वारा वायु फूँकने से स्वरों की उत्पत्ति होती है। सात स्वर वाली बाँसुरी के सब स्वर आगे अंगुलियों-द्वारा बंद रखने से 'स, एक अंगुली हटाने से 'रि', फिर 'ग' इत्यादि स्वरों की उत्पत्ति होती है। पीछे के छिद्र को अंगूठे से दावा जाता है तथा उसके खोलने पर 'नि' स्वर निकलता है। कोमल स्वरों के लिए छिद्र आधे खोले जाते है। संगीत-पारिजात में उपर्युक्त मत का ही समर्थन किया गया है तथा मुरली

को सात छिद्र वाली बताया है (२, ४३-४५) किंतु संगीत-रत्नाकर में मुरली को दो हाथ लम्बी तथा चार छिद्र वाली बताया गया है। (६, ७८४)

(६)

राग नट

राधे, जल-सुत कर जु धरे।
अति ही अरुन अधिक छबि उपजति, तजत हंस सगरे ॥
चुगन चकोर चले ह्वै सनमुख, झिझके[1] रहे खरे।
तब बिहँसी[2] बृषभानु-नंदनी, दोऊ मिलि झगरे ॥
रवि अरु ससि दोऊ एकै रथ[3], सनमुख आन अरे।
सूरदास-प्रभु कुंज बिहारी, आनंद उँमगि भरे ॥*

शब्दार्थ—जल-सुत=मुक्ता। रथ=राशि।

प्रसंग—दूती का बचन नायिका से।

भावार्थ—राधा ने (हँसों को चुगाने के लिए) मोती हाथ पर रखा है। वे हाथ की अरुणिमा से अरुण हो कर और भी अधिक कांतिमान् हो गया है। (यहाँ हाथ की अरुणिमा से मोती अरुण हो कर चिनगारी-सदृश दिखाई देने लगा) इस लिए सब हंस उसको छोड़ देते हैं और तब चकोर अंगार जान कर चुगने के लिए आते हैं, किंतु वह झिझक कर खड़े हो जाते हैं (हंसों को देखकर वे विचार में पड़ जाते हैं कि कहीं यह मुक्ता तो नहीं है, क्योंकि चिनगारी हाथ पर नहीं रखी जा सकती)। यह देख कर बृषभानु-नंदनी हँसने लगी। (हँसने से हास्य की दीप्ति मुक्ता पर पड़ी और वह ऊपर से फिर स्वेत हो गया। इस प्रकार मोती का निचला भाग लाल और ऊपर का भाग स्वेत हो हो गया हंसों ने मुक्ता और चकोरों ने चिनगारी जान कर, दोनों ही उसके प्राप्ति के लिए झगड़ने लगे। (कवि उस मुक्ता की उत्प्रेक्षा करता है, मानों रवि और शशि दोनों एक ही हाथ रूपी रथ पर आकर अड़ गये हों। यह देखकर श्री कृष्ण भी आनंद और उमंग से भर गये। अथवा सूर्य और चंद्र एक ही राशि पर आगये हैं (सूर्य और चंद्र के एक ही राशि पर आ जाने से अमावस्या का अंधकार हो जाता है जिसका तात्पर्य यह हो सकता है कि) तूने यहाँ तो यह

पा०—(१) सर-झझकति (२) हँसि कै। (३) बाल. एकै रथ बैठे।

ना. प्र. ६८१-१८१०। सर. ११६-२७। बाल. २२-१६।

अंधेर मचा रखा है और वहाँ आनंद उमंग में भरे हुए श्री कृष्ण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अथवा आज सूर्य और चंद्र के एक ही राशि पर आजाने से अमावस्या का दिन है। इस लिए इस निबिड़ अंधकार में तू कुंजों में अभिसार कर, जहाँ आनंद और उमंग भरे हुए कुंजों मे विहार करने वाले श्री कृष्ण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

अलंकार—

(१) तद्गुण —

राधे०.........उपजति।

यहाँ मोती ने अपना गुण छोड़ कर अरुणिमा का गुण ग्रहण किया।

लक्षण—

तद्गुन तजि गुन आपनों, संगति कौ गुन लेत।

(काव्य-प्रभाकर)

२. भ्रांतमान्—

यहाँ मुक्ता में हाथ की अरुणता आ जाने से चकोर को चिनगी का भ्रम हो गया। इस लिये भ्रांतमान् अलंकार हुआ।

३. पूर्वरूप —

तब बिहँसीं०......झगरे।

यहाँ हाथ की अरुणिमा से अरुण हुए मुक्ता ने फिर स्वेत रूप धारण कर लिया। इसलिए पूर्वरूप अलंकार हुआ।

लक्षण —

पूर्वरूप लै संग गुन, तजि फिर अपनों लेइ।

(काव्य-प्रभाकर)

टिप्पणी—

१—सरदार कवि ने इस पद की टीका इस भाँति की है—

"राधे जल इति। जल सुत चन्द्र तैसो मुख तामें कर धरे हैं सो अत्यन्त अरुण छवि भई है ताहि देख हंस तजै हैं औ चुनबे को चकोर सन्मुख चलै हैं औ झिझक के खरे रहे, जहाँ हंस और चकोर दोऊ भ्रम सों झगरे है तब राधा हँसे हैं रवि-शशि दोऊ एक रास में आन अरे हैं, श्री कृष्ण आनंद की उमङ्ग सौं भरे हैं।"

२—रबि०......अरे। इसका वर्णन विहारी ने बड़ा सुंदर किया है।

दुसह दुराज प्रजान कौं, क्यौं न बढ़ै दुख दंद।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिलि मावस रवि चंद ॥

(७)

राग नट

देखे[1] चारि[2] कमल इक साथ।
कमलहिं कमल गहैं लावत हैं, कमल कमल ही मध्य समात ॥
सारँग पर सारँग खेलत है, सारँग ही सौं हँसि-हँसि जात।
सारँग स्याम और हू सारँग, सारँग सारँग सौं करै बात ॥
अरि सारँग राखि सारँग कौं, सारँग गहि सारँग कौं जात।
तो लै राखि सारंग सारँग कौं, सारँग लै आऊँ वा हात ॥
सोइ सारँग चतुरानन दुरलभ, सोई सारँग संभु मुनि ध्यात।
सेवत सूरदास सारँग कौं, सारँग ऊपर बलि-बलि जात ॥*

शब्दार्थ—कमल = कर-कमल, कुच कमल। सारँग = नेत्र-कमल। सारँग = रंग-सहित, आनंदित होकर। सारँग = लाल कमल। सारँग = सखी। अरि सारँग = केलि के शत्रु, चुगलखोर। सारँग = केलि। सारँग = चंद्रमा। सारँग = रात्रि। सारँग = कृष्ण। सारँग = राधिका। सारँग = दीपक। सारँग = दंपत्ति। सारँग = चरण कमल।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—मैंने चार-कमल एक साथ देखे, अर्थात् श्री प्रियाजी के कमल कुचों पर प्रीतम के कर कमल रखे हुए थे। कमल, कमल को पकड़ कर ला रहे हैं, अर्थात् श्री प्रियाजी के हाथ कृष्ण के द्वारा कुच पकड़े हुए हाथों को कुचों पर से हटा रहे हैं। नेत्र, नेत्रों से खेल रहें हैं और दंपति आनंद विभोर होकर बार-बार हंसते हैं (भाव यह है कि कृष्ण के कुच-मर्दन को राधा रोक रही है और कृष्ण बराबर कुच मर्दन की चेष्टा में है, इस लिए दोनों एक दूसरे को टकटकी बाँध कर देख रहे हैं, इस छीना-झपटी में वे आनंदमय होकर बार-बार हँस रहे हैं)। रात्रि के जागरण के कारण उनके श्याम-अरुण नेत्र और भी अरुण हो गये

पा०—(१) ना. प्र. देखियत हैं। (२) सर-चार।

* ना. प्र. ६८२-१८१३। वें. ४१८-२। सर. ११७-२८

हैं। इसी समय एक सखी ने दूसरी सखी से कहा कि तुम चुगलखोरों से दम्पति की रक्षा करना, क्योंकि रात्रि चंद्रमा को लेकर जा रही है, अर्थात् जिस प्रकार रात्रि और चंद्रमा जा रहे हैं उसी प्रकार दंपति के सहेट का समय भी समाप्त हो गया है। रात्रि व्यतीत होने पर कहीं ऐसा न हो कि कोई इधर आ निकले और देखकर चुगली कर दे। तू इन दंपति की उस समय तक देख-भाल करना जब तक मैं दीपक न ले आऊँ, क्योंकि अंधकार में जाने से इन्हें कष्ट होगा। जो दंपति ब्रह्मा के लिए दुर्लभ हैं तथा जिनका ध्यान शंभु और मुनि लोग किया करते हैं उन्हीं दंपति की सूरदास सेवा करते हुए उनके चरण-कमल पर बलिहारी जाते हैं।

अलंकार—

यमक—

'सारंग' शब्द की अनेक बार अनेक अर्थों में आवृति होने से यमक अलंकार है।

रस—शृंगार रस, संयोग शृंगार।

टिप्पणी—सरदार कवि की टीका इस भाँति है—

देखे चार कमल इति। सखी की उक्ति सखी के प्रति। हे सखी! आज चार कमल देखु। नायिका के कुच-कमल दो, कृष्ण के कर-कमल दो और कमल को गहते जो कृष्ण कर-कमल जिन्होंने कुच-कमल गहे हैं तिन करन कों राधा के जो कर-कमल हैं ते कहि के रोकत हैं। कमल-कर कमल में समात हैं जुदे नाहिं जाने जात अरु सारंग नाम चंद्र-बदन कृष्ण को सो राधा के चंद्र-बदन पै खेले हैं और ताही कारण मुख सौं हँसि हँसि-जात हैं अरु साराँग जो श्याम कमल नेत्र सो और हू साराँग कहे लाल कमल भये हैं और साराँग जो कृष्ण के कमल-नयन हैं तिन सौं बातैं करैं हैं—कहैं इशारे करै हैं अरु साराँग अरि जो पट ताकी ओट तू राख, नायक-नायिका को काहे साराँग जो रात्रि औ साराँग जो चंद्र ताकौ लैके गयौ चाहे है तौ लों राख साराँग नाम सखी सारंग-दीप कों जो लौं सारंग नेह लै आऊँ जे साराँग राधा कृष्ण चतुरानन ब्रह्मा तिनकों दुर्लभ हैं जिन साराँग को संभु मुनि ध्यान धरै हैं तेई साराँग कों सूर नित ध्यावै है और जे चरणकमल तिन पै बलि बलि जाइ है।

(८)

राग नट

हरि उर मोहनि-बेलि लसी ।
ता पर उरग ग्रसित तब, सोभित पूरन अंस ससी ॥
चापत कर भुज दंड रेख गुन, अंतर बीच कसी ।
कनक कलस मधुपान मनौं करि, भुजगनि उलट धँसी ॥
तापर सुंदर अंचल झाँप्यौ, अंकित दंसत सी ।
सूरदास-प्रभु तुमहिं मिलत, जनु दाड़िम बिगसि हँसी ॥*

शब्दार्थ—उरग = सर्प । चापत = दबाकर । गुन = डोरी । मधु-पान = रस पीकर । कनक-कलस=स्वर्ण-कलश, कुच-कलश । दंसत=काटती है, डंक मारती है ।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से । नायिका के कुचों पर पड़ी वेणी का वर्णन है ।

भावार्थ—हे हरि ! नायिका के वक्षस्थल पर पड़ी हुई वेणी मोहनी बेलि के समान शोभा दे रही है । उसके ऊपर पूर्ण चंद्र को अंश रूप से ग्रसे हुये सर्प शोभायमान है, अर्थात् मुख चंद्र के ऊपर केश शोभाय मान हैं । वह वेणी भुजदंडों से अच्छी प्रकार दबाकर बनाई गई हैं, जिसमें डोरी की रेखाएँ बीच-बीच में कसी हुई हैं, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानों सर्पणी कुच रूप स्वर्ण कलशों से मधु पीकर, अर्थात् रस लेकर वापिस जा रही है । उस पर सुंदर अंचल ढका हुआ है जिससे वह वेणी जो चित्त में चुभी जारही है । इस प्रकार की सुंदरी जिसका हास्य खिले हुए अनार के सदृश है जो तुमको प्राप्त हो रही है ।

अलंकार—

१. वाचक-उपमेय लुप्तोपमा ।

'मोहनि बेलि लसी' । इस में बेलि उपमान, मोहनि साधारण धर्म का तो कथन है, किंतु वेणी उपमेय और सी वाचक का नहीं । इस लिए यह वाचक-उपमेय-लुप्तोपमा अलंकार है ।

२. वस्तुत्प्रेक्षा-उक्तास्पद ।

'कनक० ·········धँसी' ।

---

* ना. प्र. ६८३-१८१४ । वें. प्रे. ५३१-३० । यें. १४८४-३ । सर. ११८-६२

यहाँ वक्ष-स्थल पर वेणी की उत्प्रेक्षा 'भुजंगनि उलट धँसी' से की है। दोनों ही वस्तु उक्त हैं। इस लिए उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हुआ।

३. फलोत्प्रेक्षा सिद्धास्पद।

'जनु दाड़िम बिगसि हँसी। यहाँ तुम्हारे मिलने का फल 'दाड़िम बिगसि हँसी' से उत्प्रेक्षा की गई है। दोनों ही सिद्ध विषय हैं। इस लिये सिद्धापद-फलोत्प्रेक्षा अलंकार हुआ।

रस—शृंगार रस। सखी कर्म संघट्टन।

टिप्पणी—१. सरदार कवि ने इस कूट की टीका इस भाँति की है—
"हरि उर इति। उक्ति सखी की। हरि श्री कृष्ण तिनके उर पै राधा जो है मोहन बेल सी शोभै है ता मोहनी बेल के ऊपर उरग जो है बेनी सो पूर्ण शशि मुख ताकौ ग्रसै है, चापै है, ताकौ गुण सूत्र सो अंतर तर के बीच में कसी है सो मानों कनक कलश जो कुच हैं तिनके मधु पान करकें निज भुज में धँसी उलटि के, तापै सुंदर अंचल जो ढाप्यो है सो दंसत सो अङ्कित कहै जाहिर होय है। सो सूरदास प्रभु के मिलत मानों दाड़िम जो अनार सो बिगसो ऐसी हँसी है।"

२. रीति कालीन कवियों ने भी वेणी का बहुत वर्णन किया है। 'पजनेश' ने कुच-शंभु का सर्पणी-द्वारा पूजन कराया है।

तम तम तामस तमाद रस तोयद सी,
नीलम जटान पाट जटी प्रजटी सी है।
'पजन' प्रति कंदर्प दीप की सिखा सी चारु
हाटक फटिक ओट छुटकि फटी सी है॥
कच कुच दुबिच बिचित्र कृत बक्र बेस,
छूटी लट पाटी घट तट लपटी सी है।
बिरह असुभ्र पच्छ तिय तम प्रदोस मानौं
पन्नगी पिनाकी पग पूँजि पलटी सी है॥

३. 'ग्वाल' कवि ने इसी सर्प को दूसरे रूप से वर्णन किया है—

आई केलि मंदिर मैं राधिका रमन संग,
सुरति सुरचि करै चोर चित लीबे कौं।
कोक की कलान मैं सुजान नँद-नंद प्यारौ,
उपमा न आबै है जहाँन आँन दीबे कौं॥

'ग्वाल कवि' ललित लुनाई सैं जु लाँबी लट,
लटक पयोधर पै परी है मौज कीबे कौं।
मानौं चंद चूस कैं चल्यौ है अहि-नंद फेरि,
बैठ्यौ हैंम कुंभ पै निसंक मधु पीबे कौं ॥
(रसिकानंद)

(९)

राग नट

उर पर देखियत[१] ससि सात।
सोवत हू तैं कुँवरि राधिका, चौंकि परी अधरात ॥
खंड-खंड ह्वै गिरे गगन तैं, बास-पतिन के भ्रात।
कै बहु रूप किए मारग तैं, दधि-सुत आवत जात ॥
बिधु बिहुरे, बिधु किए सिखंडी, सिव मैं सिव-सुत जात।
सूरदास धारै को धरनी, स्याम सुनैं यह बात।*

शब्दार्थ—ससि सात = ससि एक + सात आठ = अष्ट .वसु, वसु, नाम सर्प। बास-पतिन के भ्रात = बास, ग्रह, पतिन = स्वामी, ग्रहपति के भाई तारे, सितारे। दधि-सुत = चंद्रमा। बिहुरे = बिथुरे, बिखरे हुए। सिखंडी = जूही। सिव = उरोज, हृदय। सिव-सुत = क्रोध। जात = उत्पन्न होता है। धरनी = धैर्य। बिधु = चंद्रमा, ब्रह्मा, दैव।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

भावार्थ—उस (नायिका) को अपने हृदय पर साँप दिखाई दे रहा है, अर्थात् तुम्हारी काली करतूतों को देखकर उसके छाती पर साँप लोट रहा है। उसे इतना दुःख है कि वह आधी रात को सोते-सोते चौंक कर जाग पड़ी (उस चोंकने से उसके सिर में लगे हुए सितारे टूट-टूट कर गिरे, वह ऐसे प्रतीत होते थे) मानों आकाश से सितारे टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़े हों, अथवा अनेक रूप धारण कर आकाश मार्ग से चंद्रमा आ रहा हो। उसके मुख पर बाल बिखरे हुए हैं। दैव ने उसे जूही सदृश श्वेत बना दिया है। उसके हृदय में क्रोध उत्पन्न हो रहा है। हे श्याम! आप ही कहें कि इस अवस्था में उसे किस

पा०—ना. प्र. (१) देखियत हैं।

* ना. प्र. ६८३-१८२६। वें. ४१८-५। सर ११६-३०

प्रकार धैर्य हो सकता है (इसलिए आप पधार कर उसे धैर्य बँधावे, सखी की नायक को नायिका के पास ले जाने की इच्छा व्यंजित है)।

अलंकार—

(१) रूपकातिशयोक्ति—

खड०......भ्रात।

इसमें केवल उपनामो का ही वर्णन है। उपमेय केश और सितारो का नहीं।

(२) संदेह—

खड० ·· भ्रात तथा कै० ··· जात। इन दोनो उपमानो मे संदेह है कि यह है अथवा यह। इस लिए संदेह अलकार है।

(३) यमक—

बिधु शब्द प्रथम का अर्थ चंद्रमा तथा दूसरे का दैव अर्थ में प्रयोग होने से।

रस—शृं गार रस, सखी-कर्म विरह निवेदन-द्वारा संघट्टन अभिप्रेत।

टिप्पणी—इसकी टीका सरदार कवि ने इस प्रकार की है।

"उर पर इति। सखी की उक्ति नायक सों। देखिये शशि सात को अर्थ शशि एक, सात आठ कहे, नाग कहे केश ते करौट क्रिया सों ऊपर परे हैं, तासो सर्प भय ते राधा चौकि परी आधी रात मे। गगन = शीश ताते खंड-खंड कहे अनेक भाग ह्वै गिरे वासपति-नाग तिनके भय है मानों सो वह रूप की मार्ग में दधि सुत चद्र, चंद्र कहे मुख तापै आवै है, बिधु कहे मुख ताके विषे बिहुरे जे बार ते सिखंडी कहे मयूर ताकी बिधु किये हैं,। अर्थात् मोरचंद्र रूपी मुख करे हैं और शिव जो उरोज तिनमे शिव-सुत कहे स्वामी कार्तिक जात हैं। हे श्याम! ऐसी धरन को धर सकै, अर्थात् कोई न।"

दूसरा अर्थ—अथवा शशि कहे १ सात तो एक के ऊपर सात ऐसे करके सत्रह शत्रु नाम रिपु सपत्नी राधिका स्वप्न में देखि चौंकि परी ताके दुख सो खण्ड खण्ड है कै गिरे गगन ते कहे ऊपर ते वासप कहे आँशु औ तिनके आता प्रस्वेद क्रमकै, मानौं बहुत रूप करिकै दधि-सुत चंद्र मुख ताकी राह आवत है जात कहे आँसू जो मुख ताते बिहुरे फैले आँसू शिखंडी कहे मोर वारी बेसर तामैं शिब-सुत कहे कृत मुख मुखकृत शिव जो हैं कुच तामैं जात है, कहे प्राप्त होत है सो हे श्याम! यह बात सुनो धरणी क्षमा सो क्षमा कैसे धारण करै।

(१०)

राग बिलावल

आजु बन राजत जुगल किसोर ।
दसन बसन खंडित मुख मंडित, गंड तिलक कछु थोर ।।
डगमगात पग धरत सिथिल गति, उठे काम-रस भोर ।
रति-पति सारँग अरुन महा छबि, उमँगि पलक लगे भोर ।।
स्नुति अवतंस बिराजत हरि सुत, सिद्धि दरस-सुत ओर ।
सूरदास प्रभु रस बस कीन्हीं, परी महा रन जोर ।।*

शब्दार्थ—दसन-बसन = दसनों का जो बसन हैं ऐसे अधर । गंड = कपोल । रति-पति = कामदेव, केलि । सारँग = कमल, नैन, रात्रि । काम-रस = सुरति । भोर = विभोर, अरुणोदय । स्नुति = वेद, कान । अवतंस = भूषण । हरि-सुत = गज-मुक्ता । सिद्धि = पूर्णता प्राप्त किए हुए, लंबे-लंबे, सिद्धियां । दरस — अमावस्या, दर्शन । दरस-सुत = अमावस्या का पुत्र अंधकार जैसे केश ।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से ।

भावार्थ—आज वन में युगल किशोर (प्रिया-प्रीतम) शोभायमान हो रहे हैं । (उनकी शोभा कैसी है) मुख पर दाँतों से क्षत अधर तथा कपोलों पर कुछ मिटा हुआ तिलक शोभायमान है । वे केलि में विभोर होकर उठे हैं । इससे उनकी देह में शिथिलता है तथा चलने में पैर डगमगाते हैं । (रात्रि में केलि से जगने के कारण) उनके कमल-नेत्र अरुणोदय के समान लाल हो रहे हैं । लंबे-लंबे केशों के समीप गज-मुक्ताओं के आभूषण कान में शोभायमान हैं मानों दर्शन! सिद्धि को प्राप्त कर सिद्धियों के पुत्र, वेदों के आभूषण भगवान के पुत्र भक्त शोभायमान हों । इस प्रकार श्री कृष्ण ने रति-युद्ध में जीतकर राधा को रस बस कर लिया ।

अलंकार—

समुच्चय—

दसन० ...भोर ।

इसमें डगमगा कर पग धरना, शिथिल गति-आदि भाव एक साथ ही उदय हुए । इसलिए समुच्चय अलङ्कार है ।

---

* ना. प्र. ६८४–१८१७ । सर. १२०–३१ । वें. ४१८–६ ।

लक्षण—

होत समुच्चय भाव बहु, उपजत इक संग आइ।
तुव अरि भाजत, गिरत, फिर, भाजत हैं सतराइ॥
(काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, संयोग शृङ्गार, सुरतांत वर्णन।

(११)

राग केदारौ

आज तन राधा सज्यौ सिंगार।
नीरज-सुत-सुत-बाहन कौ भख[1], स्याम अरुन रँग कौ न बिचार॥
मुद्रा-पति-अँचवन-तनया-सुत, ताके उरहिं बनावहि हार।
गिरि-सुत तिनि पति बिबस करन कौं, अच्छत लै पूजत रिपु मार॥
पंथ-पिता-आसन-सुत सोभित[2], स्याम घटा बग[3]-पंक्ति अपार।
सूरदास-प्रभु अंस-सुता तट, क्रीड़त राधा नंद-कुमार॥*

शब्दार्थ—नीरज०...भख=नीरज, कमल उसका पुत्र ब्रह्मा, उसका पुत्र महादेव, उसका बाहन बैल, गो=मोर उसका भक्षण सर्प जैसे केश। मुद्रापति०...सुत=मुद्रा, लोपामुद्रा के पति अगस्त्य मुनि, उनका अचवन समुद्र उसकी तनया सीपी, उसका पुत्र मुक्ता। गिरि०...पति=गिरि-सुत, वृक्ष, उनका पति कल्प-वृक्ष, अर्थात् सब इच्छाओं को पूर्ण करने वाले नायक, श्री कृष्ण। रिपु मार=कामदेव का शत्रु, महादेव। पंथ०...सुत=पंथ नाम वेद उसका पिता ब्रह्मा, उसका आसन हंस=सूर्य उसका पुत्र सुग्रीव=सुंदर ग्रीवा। अंसु-सुता=सूर्य की पुत्री यमुनाजी।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—आज राधा ने अपना शृंगार किया है। उसने अपने सर्प जैसे केशों को श्याम और अरुण रंग का विचार त्याग कर सज्जित किया है, अर्थात् सर्प जैसे काले केशों को लाल रेशम से गुहा है। हृदय पर मुक्ता-माल धारण किये हुए हैं, मानों नायक को विबश कर अपनी कामना पूर्ण करने

पा०—(१) बाल. नरिज सुत बाहन को भक्षन। (२) पारथ पितु बाहन। (३) ना. प्र. बना

* ना. प्र. ६८५–१८२०। वें. ४१६–११। सर.१२१–३२। बाल. ४६–३८। रि ७०–६।

के लिए मुक्ता रूपी अक्षतों से महादेव का पूजन कर रही हैं, अथवा श्याम साड़ी पर सुंदर ग्रीवा में मुक्ता-माल धारण किये हुए ऐसी प्रतीत होती है मानों श्याम-घटा में बगुलों की पंक्ति हो। इस प्रकार शृंगार किये हुए राधा-कृष्ण से यमुना किनारे क्रीड़ा कर रही है।

अलंकार—

गम्योत्प्रेक्षा—

'मुद्रा-पति......मार'। इसमें मुद्रापति वाली पंक्ति की गिरि-सुत वाली पंक्ति से उत्प्रेक्षा की है, किंतु जनु शब्द के लोप से गम्योत्प्रेक्षा हुई।

रस—शृङ्गार रस, संयोग शृंगार।

टिप्पणी—

१. बालकिशन ने इसकी टीका इस प्रकार की है।

श्री स्वामिनी जी मोतिन को शृंगार करि श्री यमुनाजी के तीर श्री नंद कुमार सों बिहार करत हैं। नीरज कमल सुत ब्रह्मा वाहन हंस भक्षन मोती ताकों पहिरे हैं सो मोती में अरुनता स्यामता दीसत है। ताको यह विचार जो बेसर को मोती है तामें अधर की अरुनता नेत्रन की स्यामता परत हैं। अथवा श्री हस्त के आभूषण गजरा, पोहँची प्रभृति मोती के अरुन पाट सौं परौये स्याम फुदना लगे हैं। लोपामुद्रा के पति अगस्त्य ऋषि अचवन समुद्र सीप सुत मोती तिनके हार बनाये हैं। नाना प्रकार सों गूँथ-गूँथ कै बहुत उर में धरै हैं ताकों दृष्टांत कहत हैं। सिंधु सुता पति श्री ठाकुरजी तिनकों बस करिबे कों कुच जे हैं तेइ मार को रिपु शिव रूप हैं। तिनकों मुक्ता रूप जो अक्षत तिन कर पूजत हैं। पारथ अर्जुन पितु इंद्र बाहन हस्ती सुत मोती सो गज मोतिन की पंगत माँग मध्य धरे हैं सो ऐसी शोभित हैं जो स्याम घटा के बीच बगुलानि की पाँति होय ताकी शोभा कों बिसारियें। ताहू तें अधिक शोभित हैं। इहाँ स्याम घटा केसन की पाटी दुहूँ कों जानिये। और तो अर्थ स्पष्ट हैं।

२. मुद्रापति अँचवन—लोपामुद्रा के पति अगस्त्य के पिता का नाम मित्रा-वरुण है। ऋग्वेद में लिखा है कि मित्रावरुण ने उर्वसी को देख और काम से पीड़ित हो वीर्यपात किया, जिससे अगस्त्य जी की उत्पत्ति हुई। सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद-भाष्य में लिखा है कि मित्रावरुण ने अपने पतित वीर्य को घट में स्थापित किया, जिससे अगस्त्य की उत्पत्ति हुई और वे कुंभसंभव, घटोद्भव और कुंभज नाम से प्रसिद्ध हुए। पुराणों में लिखा है कि एक समय टिटिहरी के अंडों

को समुद्र बहा ले गया। टिटिहरी ने अगस्त्यजी से समुद्र की शिकायत की जिससे क्रोधित होकर अगस्त्य समुद्र को चल्लू भर कर पी गये, जिससे वे 'समुद्र-चुलुक' और 'दीताब्धि' भी कहलाते हैं और इसी से समुद्र के लिए 'मुद्रापति-अँचवन' शब्द बन जाता है।

किसी-किसी पुराण में इनका पुलस्त्य को पुत्र भी माना है जिससे इनका निवास स्थान पुलस्त्य के नाती रावण पुर लंका अनुमान कर लिया गया है।

३ नीरज-सुत—श्रीमद्भागवत (१, ३, १–२) में लिखा है कि भगवान विष्णु ने सृष्टि करने की इच्छा से प्रथम महत्तत्व, अहंकार तत्व और पंच तन्मात्रा-द्वारा षोड़श कलायुक्त पौरुष रूप, अर्थात् ग्यारह इंद्री और पंच महाभूत, सोलह अंशों से विशिष्ट मूर्ति धारण की थी। पहिले योग निद्रा विस्तार पूर्वक एकार्णव में शयन करने पर उनके नाभि स्वरूप हृदयस्थ अंबुज से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, परंतु मनुस्मृति में ब्रह्मा की उत्पत्ति इससे भिन्न मानी गई है। उसमें लिखा है कि परिदृश्यमान जगत एक मात्र अंधकारवृत और अप्रत्यक्ष था। तब अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म ने अपने शरीर से अनेक भाँति की प्रजा की रचना की इच्छा करके सबसे पहिले ध्यान योग से जल की सृष्टि की। पश्चात् इस जल में बीज डाला। उससे अंड की उत्पत्ति हुई। उस अंड से स्वयम् ब्रह्म ने पितामह के रूप में जन्म ग्रहण किया।

कालिका पुराण में भी ब्रह्मा की उत्पत्ति मनुस्मृति के समान ही लिखी हुई है।

उपर्युक्त बातों के देखने से प्रतीत होता है कि सूरदास ने नीरज-सुत, ब्रह्मा की भावना श्रीमद्भागवत से ली है। सूरसागर में लिखा है—

जो हरि करैं सो होइ, करता राम हरी।
ज्यौं दरपन-प्रतिबिंब, त्यौं सब सृष्टि करी॥
आदि निरजंन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सृष्टि बिस्तार, भई इच्छा इक औसर॥
त्रिगुन प्रकृति तैं महतत्व, महतत्व तैं अहंकार।
मन-इंद्रिय-सब्दादि-पंच तातैं कियौ बिस्तार॥
सब्दादिक तैं पंचभूत सुंदर प्रघटाए।
पुनि सब कौं रचि अंड आप मैं आप समाए॥

❀

नाभि-कमल तैं आदि पुरुष मोकौं प्रघटायौ ।
खोजत जुग गए बीत नाल कौ अंत न पायौ ॥

४ नीरज-सुत-सुत = रुद्र—

सूरदास ने रुद्र की उत्पत्ति इस प्रकार वर्णन की है—

ब्रह्मा ब्रह्म रूप उर धारि । मन सौं प्रघट किए सुत चारि ॥

❀

सनकादिकनि कह्यौ नहिं मान्यौ । ब्रह्मा बहुत क्रोध मन आन्यौ ॥
तब इक पुरुष भौंह तैं भयौ । होत समय तिनि रोदन ठयौ ॥
ताकौ नाम रुद्र बिधि राख्यौ । ताकौं सृष्टि करन कौं भाख्यौ ॥

यह कथा श्रीमद्भागवत में दी है । पद्म-पुराण स्वर्ग खंड के आठवें अध्याय में भी रुद्र की उत्पत्ति इसी प्रकार दी है । कूर्म पुराण दसवें अध्याय में लिखा है कि ब्रह्मा बहुत दिन तक तप करने पर भी जब सृष्टि करने में समर्थ न हुए, तो अत्यंत क्रोध होने पर उनके नेत्र से एक अश्रु-विंदु गिरा और उस अश्रु-विंदु से भूत-प्रेतादि की उत्पत्ति हुई । इसके पश्चात् ब्रह्मा के मुख से प्राणमय रुद्र आविर्भूत हुए ।

पुराणों में रुद्र की उत्पत्ति और मूर्ति के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है उससे वे आदि देव, महादेव की प्रकृति भेद मात्र हैं । वे शांति मूर्ति में शिव और विनाश में रुद्र रूप हैं ।

पुराणों में रुद्र का यह रूप वैदिक-साहित्य से लिया हुआ है । ऋग्वेद (१, ४५, १; १, ६४, २; १, ८५, १; ११, ११४, १;) के देखने से पता चलता है कि रुद्र मरुद्गण के पिता और अग्नि ही थे, किंतु इसी में वे (२, ३३, ४) रुद्र को अग्नि से पृथक् देवता माना है । शतपथ ब्राह्मण (१, ७, ३, ८; ६, १, ३, ७; १९, ९, १, १; ६, १, १, ६) शांखायन ब्राह्मण (६, ६, ९,) में उन्हें अग्नि और कार्तिकेय का पिता माना है तथा श्वेताश्वेतर उपनिषद् में रुद्र (३, २) बिश्वाधिप (३, ३) महर्षि (३, ४) ईशान (३, १२) महेश्वर (४, १०) सर्वव्यापी (३, ११) अग्र्यम पुरुष (३, ९) शिव, (४, १४) अक्षरम्, (४, १८) आदि उपाधियों से भूषित कर उन्हें ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ बतलाया है । (३, ७

(१२)

राग ललित।

देखि सखि, साठ कमल इक जोर[१]।
बीस कमल[२] परघट दिखियत हैं, राधा नंदकिसोर॥
सोरह कला संपूरन मोह्यौ, ब्रज अरुनोदय भोर[३]।
तामैं सखी द्वैक मधु[४] लागि रहे, चितवत चारि चकोर[५]॥
मैमत द्वै[६] गजराज अरे हैं, कोट[७] मदन भै भोर।
सूरदास बलि-बलि या छबि की, पलकनि की झकझोर[८]॥

शब्दार्थ—बीस कमल = राधा नंदकिशोर के चार + चरण कमल, चार + कर कमल दो + मुख कमल चार + नेत्र कमल दो + हृदय कमल दो + नाभि कमल, दो प्रिया जी के कुच कमल। मधु = शहद = अधर।

प्रसंग—राधा और कृष्ण यमुना किनारे खड़े हुए दपर्ण देख रहे हैं। इस प्रकार उनका एक प्रतिबिंब श्री यमुना जी में तथा दूसरा प्रतिबिंब दर्पण में पड़ रहा है। इस दृष्य को देख कर एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! देखो, एक ही स्थान पर साठ कमल एकत्रित है (प्रिया-प्रीतम के अंग उपमान के बीस कमल, जो दर्पण और यमुना के किनारे बिंब-प्रतिबिंब भाव से साठ हो जाते हैं), इसमें से राधा-कृष्ण के बीस कमल प्रत्यत्त दिखाई दे रहे हैं, जिन्होंने अपनी सोलह कलाओं से (श्री कृष्ण का अवतार सोलह कला का कहलाता है) अरुणोदय के समान संपूर्ण ब्रज को मोहित कर लिया है। उसमें मधु से भरे हुए दो अधर हैं और चार चकोरदेख रहे हैं, अर्थात् प्रिया-प्रीतम के नेत्र, एक दूसरे के मुख चंद्र को चकोर बने हुए हैं वे ऐसे लगते हैं मानों कामदेव के प्रासाद में दो मदमत्त हाथियों को लड़ते हुए सूर्योदय हो गया हो (अर्थात् संपूर्ण रात्रि एक दूसरे को देखते हुए व्यतीत हो

पा०—(१) वें. देखि सखो सायक बलजोर। बाल. देखे साठ कमल इक ठौर। (२) तामें बीस। (३) मानों उदधि भये भोर। (४) वें. द्वै कमल। (५) बाल. नैनन की गति लागि रही है इक टक चद चकोर। (६) वें. मनु मदमत्त। बाल. मानों मत्त। (७) ना. प्र. कोटि-मदन-भय भोर, बाल. कोट मदन की जोर। (८) बाल. सूरदास दंपति परस्पर पलकन की झकझोर।

* ना. प्र. ६८५–१८२१। वें. ४१६–१२। सर. १२१–३३ बाल. ४५–३२।

जाने पर भी तृप्त नहीं हुए)। सूरदासजी पलकों के झकझोरने की (इक टक देखने की) इस छवि परबलिहारी जाते हैं।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

(अ) साठ कमल इक जोर।

(ब) बीस कमल परघट दिखियत।

(स) तामैं०·················चकोर। ०······

इस में केवल उपमानों का ही वर्णन है। इस लिये रूपकातिशयोक्ति अलंकार हुआ

२. वस्तूत्प्रेक्षा-उक्तास्पद—

चितवत०···भोर। इसमें नेत्रों की मैंमत (मद-मत्त) गजराज से उत्प्रेक्षा की है। ०···दोनों ही उक्त वस्तु हैं। इस लिये उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार हुआ।

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार।

टिप्पणी—१. सरदार कवि ने 'मद०···भोर' पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है "मानों दो गजराज शुण्ड जङ्घा सो अरे हैं मदन महावत के भय से।"

२. बालकिशन ने दो कुच कमल के स्थान पर 'श्री' हस्त में कमल के फूल धरे हैं सो कमल' अर्थ किया है।

(१३)

राग रामकली।

मेरौ मन, हरि-चितवनि अरुझानौं।

फेरत कमल द्वार ह्वै निकसे, करत सिँगार भुलानौं॥

अरुन अधर, दसनन दुति राजत, मो तन[1] मुरि मुसकानौं।

उदधि-सुता[2]-सुत पाँति कमल मैं, बंदन भुरके मानौं॥[3]

इहिं रस मगन रहत निसि बासर, हार-जीति नहिं जानौं।

सूरदास चित-भंग होत क्यौं, जो जिहिं रूप समानौं॥ *

पा०—(१) वें. मोहन (२) तनया। (३) इस पंक्ति के पश्चात् वेंकटेश्वर वाली प्रति में दो पक्ति और हैं जो ना. प्र. वाली प्रतिमें नहीं है।

सुभग कपोल लोल मनि कुंडल, इहि उपमा केहि बानौं।
उभय अंक अति पान अमी-रस, मीन ग्रसत बिधि मानौं।

* ना. प्र.—८३६–२२८५। वें. २६०–६।

शब्दार्थ—उदधि-सुता-सुत = उदधि नाम समुद्र; उसकी सुता सीपी, उसका पुत्र मोती। बंदन = सिंदूर। भुरके = छिड़के हुए हैं।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—मेरा मन श्रीकृष्ण की चितवन में उलझ गया है, अर्थात् उनकी मोहनी दृष्टि पर मैं मोहित होगई हूँ। जब वह कमल हिलाते हुए मेरे द्वार के आगे होकर निकले तो मैं शृंगार करना भूल गई। (जब वह कुछ आगे बढ़ कर) मेरी तरफ मुड़कर मुसकाये, तब उनके अरुण अधरों की काँति उनके दाँतों पर इस प्रकार पड़ रही थी, मानों कमल में बिछी मुक्ता-पंक्तियों पर सिंदूर छिड़क दिया हो। मैं तो सदा इसी रस में मगन रहती हूँ और हार जीत कुछ भी नहीं समझती। जो जिस के रूप में समा गया है, उसका चित्त उससे विचलित कि[illegible] प्रकार हो सकता है?

अलंकार—

१. वस्तुत्प्रेक्षा—उक्तास्पद—

अरुन०····· मानौं। यहाँ दसनों में मुक्ता की उत्प्रेक्षा है, दसन और मुक्ता दोनों ही उक्त हैं। इस लिए उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा हुई।

रस—शृंगार रस। प्रत्यक्ष दर्शन।

टिप्पणि—संस्कृत और हिंदी के आचार्यों ने शृंगार रस के रति स्थाई का का कारण स्नेह मानते हुए उस की उत्पत्ति का कारण 'दर्शन' माना है, अर्थात् नायिका-नायक की अनुरक्ति दर्शन से होती है। यह दर्शन चार प्रकार का है—

(१) श्रवण दर्शन—जो नायिका का नायक के गुण श्रवण द्वारा होता है

(२) स्वप्न दर्शन—जो प्रेमियों का स्वप्न में देखकर होता है।

(३) चित्र दर्शन—जो चित्र देखने से होता है,

(४) प्रत्यक्ष दर्शन—जिसमें प्रेमानुभूति प्रत्यक्ष देखकर होती है।

(१४)

राग धनाश्री

तऊ न गोरस छाँड़ि दयौ।

चहुँ-फल भवन गह्यौ सारंग-रिपु-बाजि धरा अथयौ॥

अमी-बचन-रुचि रचत, कपट हठ, झगरौ फेरि ठयौ।

कुमदिन प्रफुलित, हौं जिय सकुची, लै मृग-चंद नयौ॥

जानि निसा सिसु रूप बिलोकत, नवल किसोर भयौ।
तब तैं सूर नैंकु नहिं छूटत, मन अपनाइ लयौ ॥*

शब्दार्थ—गोरस = दूध। चहूँ-फल = चारो थनों का फल अर्थात् दूध। भवन = दोहनी। सारँग-रिपु-बाजि = सारंग, रात्रि, शत्रु, सूर्य, सूर्य के घोड़े। हौं = मैं।

प्रसंग—नायिका श्री कृष्ण के पास संध्या समय दोहनी लेकर दूध दुहाने गई। दूध दुह लेने पर भी कृष्ण ने कपट पूर्ण मीठे वचनों से उसको बातों में लगा लेना चाहा, परंतु जब वह बातों में न आई तो उससे व्यर्थ ही झगड़ा करने लगे। इसी समय रात्रि हो गई और कृष्ण किशोर रूप हो गये। इसी का वर्णन नायिका अपनी सखी से कर रही है।

भावार्थ—सूर्य के घोड़ों का पृथ्वी से अस्त हो जाने पर, अर्थात् सूर्यास्त हो जाने पर कृष्ण ने (गाय के) चारों थनों का दूध दोहनी में दुह लेने पर भी मुझको दूध नहीं दिया। पहिले तो कपट पूर्ण मीठे वचनों से बातें की, फिर झगड़ा करने लगे। तब ही नवीन चंद्र के मृग-सहित उदय होने पर कुमलनी तो प्रसन्नता से खिल गई, किंतु मैं हृदय में सकुचा गई, अर्थात् शर्मा गई। रात्रि का समय देख कर कृष्ण का बाल रूप किशोरावस्था को प्राप्त हो गया, अर्थात् श्री कृष्ण मुझसे तरुण के समान व्यवहार करने लगे। उस समय से उन्होंने मेरा मन ऐसा बस में कर लिया है कि छुड़ाने पर भी नहीं छूटता।

अलंकार—

१. असंगति—

'कुमदिन०…नयौ'। यहाँ चंद उदय होने का कारण कहीं, कमोदनी के फूलने का कारण कहीं तथा नायिका के संकुचित होने का कार्य कहीं हुआ। इस लिए असंगति अलंकार हुआ।

लक्षण—

होत असंगत हेतु अरु, कारज औरैं ठौर।
कोइल मदमाती भई, झूमत अंबा बौर ॥

(काव्य-प्रभाकर)

२. वाचक धर्म-लुप्तोपमा—अमी वचन।

---

* ना. प्र.—८३७—२२८६। वें. २६०—१०

इसमें उपमान और उपमेय तो हैं, किंतु वाचक और धर्म नही है। इसलिए वाचक-धर्म-लुप्तोपमालंकार है।

टिप्पणि—(१) 'कुमदिन०...नयौ'। यहाँ नया चंद्रमा कहने का तात्पर्य यह है कि वह चंद्र कलंकित है पर यह मुखचंद्र नवीन है, अर्थात् कलंक रहित है। नाथिका का आशय संभवतः चौथ के चंद्रमा से है, जो स्वतः कलंकित होते हुए दूसरों को कलंक लगाने वाला है। कुमोदनी उसे चाहे देखकर प्रसन्न होकर खिल जाय, किंतु नायिका को तो संकोच ही हुआ, कारण इस चंद्रमा को देख कर उसे कलंक लगना निश्चित था।

(२) 'जानि०...भयौ'। सूरदास ने कृष्ण के बाल-रूप का किशोर रूप धारण कर लेना और भी कई स्थानों पर वर्णन किया है। एक स्थान पर लिखा है—

हरि जानत है मंत्र-जंत्र, सीखौ कहूँ टौना।
बन मैं तरुन कन्हाइ, घरहि आवत ह्वै छौना॥

(१५)

राग कान्हरौ।

राधा बसन स्याम तनु चीन्हीं।
साराँग-बदन बिलास बिलोचन, हरि सारंग जानि रति कीन्हीं॥
साराँग-बचन कहत साराँग सौं, साराँग-रिपु दै राखत झीनीं।
साराँग-पानि कहति[1] रिपु साराँग, साराँग कहा कहति लियौ छीनीं॥
सुधा पानि कर कैं[2] नीकी बिधि, रह्यौ सेस फिर मुद्रा दीनीं।
सूर सुदेस आहि रति नागर, भुज आकरखि बाम कर लीनीं॥*

शब्दार्थ—सारंग = चंद्रमा, रात्रि, सखी। सारंग-रिपु = दीपक का शत्रु, वस्त्र। झीनीं = महीन। सारंग-पानि = श्री कृष्ण। सारंग = वस्त्र। सुधा = अमृत = अधर सुधा। मुद्रा = आकृति। आकरखि = खींचकर। बाम = स्त्री, राधिका।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—मैंने राधा के श्याम वस्त्रों से उसे थोड़ा सा पहिचान लिया।

पा०—(१) ना. प्र. गहति। (२) कुच।

* ना. प्र.—८३६—२२६८। वें. २६१-१६। सर. १३३-५०। नव. ११७-१४७, ४२२, ५६। रा. क. द्वि. भा. १४२-५६। दि. १५०-५५४। कां. ३१४-१३६६।

(मैंने देखा कि) श्री कृष्ण ने उसकी विलास मयी दृष्टि (कामातुर) नेत्रों को देखकर और रात्रि का उपयुक्त समय समझ, उससे रति क्रीड़ा आरंभ की। राधा ने महीन वस्त्रों की ओट कर ली। श्री कृष्ण कहते हैं कि यह वस्त्र ही शत्रु है (इससे तुम इन्हें दूर कर दो) राधा ने उत्तर दिया कि तुम क्या कहते हो, इन वस्त्रों ने तुम्हारा क्या छीन लिया है, अर्थात् यह तुम्हारे कार्य में बाधक नहीं। तब श्री कृष्ण ने अधर-सुधा का भली भाँति पान किया और फिर शेष की-सी आकृति बनाई, अर्थात् हृदय से लगा लिया। सूरदास कहते हैं कि उस सुन्दर स्थान पर बैठ कर रति-नागर श्याम ने अपनी भुजाओं से राधा को खींच कर अपने अंक में भर ली।

अलंकार—

१. यमक—

सारंग शब्द की अनेक आवृति अनेकार्थ में होने से यमक अलंकार है।

२. परिकर—

बिलास बिलोचन, राधा का साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलंकार है।

३. उत्तर

'सारँग पानि कहति रिपु सारँग' का उत्तर 'सारँग कहा कहति लियौ छीनीं' में है। इसलिए उत्तर अलंकार है।

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार।

टिप्पणी—सरदार कवि ने इस पद की इस प्रकार टीका की है—

"राधा को श्याम बसन लिये चीन्ही। सारंग रात्रि के बचन सारंग अली सौं कह्यौ। सारंग दीप पट ओट सारंग कमल कहैं सारंग रिपु पट छीन लियो अरु अधर पान कियौ, कुच मर्दन, आलिंगन मुद्रा कर बाम भुज में भरी।"

(१६)

राग सोरठ

राधे, दधि-सुत क्यौं न दुरावति।
हौं जु कहति बृषभानु-नंदिनी, काहे[1] जीव सतावति॥

पा (१) वें० काहे तु।

ना. प्र. ८४६—२३३२। वें. प्रे. ३३६—५३। वें. २६५—५३। सर. १३४—५६। नि. की उत्तरार्ध ४—४। बाल. २७—२०।

जल-सुत[1] दुखी दुखी हैं[2] मधुकर, द्वै पंछी दुख पावति।
सारँग दुखी होत बिनु सारँग, तोहि दया नहिं आवत।
सारँग-रिपु की नैकु ओट करि, ज्यौं सारँग सुख पावत।
सूरदास सारँग किहिं[3] कारन[4], सारँग-कुलहि लजावत॥

शब्दार्थ—दधि-सुत = चंद्रमा, मुखचंद्र। जल-सुत = कमल। द्वै पंछी = दो पक्षी, चकवा-चकवी (चकवा-चकवी का रात्रि के समय वियोग हो जाता है और सूर्योदय पर फिर मिल जाते हैं) सारंग = भ्रमर। सारंग-रिपु = वस्त्र, अंचल। सारंग = चंद्रमा। सारंग = नारि। सारंग = सरस।

प्रसंग—सरोवर के समीप खड़ी हुई राधा के मुख-सौंदर्य का वर्णन। राधा के मुख-चंद्र को देखकर सूर्य की आभा फीकी पड़ गई और चंद्र का प्रकाश हो गया सखी का वचन राधा से।

भावार्थ—हे राधे! तू मुख चंद्र को क्यों नहीं छिपाती। हे वृषभानु-नंदनी! मैं पूछती हूँ कि तू जीवों को क्यों दुःख दे रही है? (यहाँ वृषभानु-नंदनी कहने से सखी का तात्पर्य यह है कि राजा तो सब का पालन कर सुख देनेवाला होता है फिर तू उसकी पुत्री होकर जीवों को क्यों दुख दे रही है)। कमल दुखी हैं (तेरे मुखचंद्र को देख कर कमल बंद हो गये हैं)। भौंरा दुखी हैं (कमल बंद हो जाने से भौंरा उसमें बंद हो जाते हैं)। दो पक्षी चकवा और चकवी भी (वियोग के कारण) दुखी हो रहे हैं। भौंरी भौंरे के बिना दुखी हो रही है (भौंरा कमल में बंद हो जाने के कारण दुखी है और भौंरी उसके वियोग में दुखी है)। इस पर भी तुझे दया नहीं आ रही। तू अपने अंचल से मुख-चंद्र को तनिक ढक ले, जिससे इन सारंगों को सुख मिले। हे सारंग (राधिके)! तू किस कारण से अपने उत्तम कुल को लज्जित कर रही है, अथवा तू सारंग होकर भी किस कारण से सारंग-कुल को लज्जित कर रही है। यहाँ पद में वर्णित जो वस्तुएँ हैं उन सबका पर्याय सारंग है तथा राधा और स्त्री इनको भी सारंग कहते हैं।

अलंकार—

१. तुल्ययोगिता प्रथम—

'जल-सुत०...दुख पावत' इसमें जल-सुत, मधुकर और द्वै पंछी सभी का एक ही धर्म दुखी होना कहा गया।

पा०—(१) जलचर। (२) वें. वे। (३) वें. प्रे., सर. केहि, बाल. के। (४) बाल. धोखे।

२ यमक—

'सारँग०…लजावत'—इसमें सारंग शब्द अनेकार्थ में प्रयोग हुआ है।

३. अर्थान्तरन्यास—

इस पद में प्रथम दो पंक्तियों में साधारण बात का अंतिम चार पंक्तियों से समर्थन किया है।

४. सम—

राधा भी सारंग है और यह सब वस्तुएँ भी सारंग हैं, इस लिये दोनों 'सम' हुए।

रस—शृंगार रस, सखी-कर्म शिक्षा।

टिप्पणी—१. सरदार कवि ने इस प्रकार टीका की है—

"दधि सुत चन्द व जल सुत वनचर, मृगवर दो पक्षी चक्रवाक, सारंग-भ्रमर, सारंग सुगन्ध-हीन देखी, अंचल ओट कर सारंग चन्द्र सुख पावै है। हे सारंग राधे वृषभानु-कुल न लजा।"

२. बालकिशन ने इस पद की अंतिम दो पंक्तियों का निम्न पाठ दिया है—

सारँग रिपु की नैंकु ओट दै, यौं सारँग दुख छावति।
सूरदास सारँग के धोखैं, सारँग कुलहि लजावति॥

और इसका अर्थ इस भाँति किया है—

"सारंग दीपक, रिपु अंचल की नेक ओट कर ले। ता करि सारंग सूर्य की दुति फेर छतो होय। तो सबन कों सुख होय। सारंग चंद्रमा अथवा रात्रि के धोखे जो हंस कुल सो लजाय जात हैं। अथवा सारंग कुल पक्षी सो लजाय जात है।

३. "सूरदास ने मुख चंद्र के मिस चंद्रोदय का वर्णन किया है। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि राधा के मुख की सुंदरता इतनी अधिक थी कि उसको देख कर सूर्य का प्रकाश भी मंद पड़ जाता था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने 'चंद्रावलि नाटिका' में इसी भाव का वर्णन कृष्ण के लिए किया है।

देखि सखी देखि अनमेख ऐसौ भेख यह,
　　जाहि पेख तेज रवि हू कौ मंद ह्वै गयौ।
'हरीचंद' ताप सब जिय कौ नसाय चित्त,
　　आनँद बढ़ाय भाइ अति छवि सौं छयौ॥

ग्वाल-उडुगन बीच बेनु कौं बजाइ सुधा,
रस बरसाइ मान कमल लजै गयौ।
गो-रज समूह घन पटल उघारि वह,
गोप-कुल कुमुद निसाकर उदै भयौ॥

(२) चंद्रोदय का वर्णन 'किशोर' का भी बड़ा सुंदर है—

कहत 'किसोर' जो चकोरन कौ ताप हर,
कुमुद कलापी मुकलीकर सुछंद भौ।
माननीन हू कौ मन दरप दलित कर,
कंदरप कंदलित कर जग बंद भौ॥
मुद्रत कमल, अबली कर तिमिर,
धबली कर दिसान, कबली कर सुछंद भौ।
अंबुध अमित कर, लोकन मुदित कर,
कोक अमुदित कर, समुदित चंद भौ॥

(१७)

राग सूही

प्रात-समै आवत हरि राजत।
रतन[1] जटित कुंडल सखि स्रवनन, तिनकी किरन सूर तनु लाजत॥
सातै रासि मेलि द्वादस मैं, कटि मेखला अलंकृत साजत।
पृथ्वी मथी पिता सो लै कर, मुख समीप मुरली धुनि बाजत॥
जलधि तात तिहिं नाम कंठ के, तिनके पँख मुख-सीस बिराजत[2]।
सूरदास कहै सुनहुँ गूढ़ हरि[3], भगतनि भजत अभगतनि भाजत॥*

शब्दार्थ—सातै रासि = सातवीं राशि तुला उसका स्वामी शुक्र वही हीरा। द्वादस = द्वादस राशि मीन उसका स्वामी गुरु सोई स्वर्ण। पृथ्वी०···लैकर = पृथ्वी को मथने वाला पृथु उसका पिता वेणु = बाँस, लकुटी। जलधि०···के = जलधि-तात, समुद्र का पिता आकाश रंग नील, उसमें कंठ मिला कर हुआ नील-कंठ = मोर।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

पाठांतर—(१) बाल. इंद्र। (२) ना. प्र. आजत। (३) बाल. मूढ़ जन।

* ना. प्र. ८७७–२४१६। बाल. ५२–४०। वें. २७४–३७।

भावार्थ—प्रातः काल श्री कृष्ण (शृंगार किये हुए) पधार रहे हैं। कानों में पहिने हुए रत्न जटित कुंडलों की प्रभा सूर्य की किरणों को भी लज्जित करनेवाली है। उनकी कटि में हीरों से जड़ी हुई स्वर्ण-करधनी शोभायमान है। हाथ में लकुटी लिये हुए, मुख पर रखी हुई मुरली मधुर ध्वनि से बजा रहे हैं। सिर पर मोर-पंखों का मुकुट लगाये हुए हैं। सूरदास कहते हैं (कि मेरी यह) गूढ़ बात सुनो। वे भक्तों का सदा ध्यान रखते हैं और विमुखों से सदा दूर रहते हैं।

अलंकार—

तृतीय प्रतीप—

रतन०···लाजत। यहाँ कुण्डल की किरणों (उपमेय) से सूर की किरणों को हीन बताया। इस लिये तृतीय प्रतीप हुआ।

टिप्पणी—१. "पृथ्वी०···पिता।" श्री मद्भागवत के चतुर्थ स्कंध में लिखा है कि अत्याचारी राजा वेणु ने यज्ञ-इत्यादि बंद कर दिये। तब ऋषियों ने क्रोधित होकर वेणु की हत्या कर दी। राजा के मरने पर देश में अराजकता फैल गई। इस लिये ऋषियों ने मंत्र पढ़-पढ़ कर वेणु की जंघा का मथन किया, जिससे एक काले रंग का कुरूप पुरुष निकला। उसको भीलों का राजा बनाया गया। फिर दक्षिण भुजा का मथन किया, उससे लक्ष्मी-सहित पृथु ने दर्शन दिये। इनको ही पृथ्वी का राजा बनाया गया। वेणु के समय में जो प्रजा बेकार हो गई थी, उसने आकर पृथु से प्रार्थना की कि आप हमारी आजीवका का प्रबंध करें। राजा ने पृथ्वी पर क्रोधित हो धनुष बाण हाथ में लिया। पृथ्वी गो-रूप धारण कर राजा के सामने आई। उसको दुह कर उन्होंने अनेकों रत्न निकाले, भूमि समतल की तथा प्रजा की आजीविका का प्रबंध किया।

अथर्ववेद (८, १७, २५) में पृथ्वी वैन्य राजा को हल से भूमि जोतने की विद्या का आविष्कारक माना है। श्रीमद्भागवत की कथा इसी के आधार पर लिखी गई प्रतीत होती है।

२. "सातै रासि०···द्वादस में"।

ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार निम्न लिखित बारह राशियाँ मानी गई हैं—

१. मेष। २. वृष। ३ मिथुन। ४. कर्क। ५. सिंह। ६. कन्या। ७. तुला। ८. वृश्चिक। ९. धन। १०. मकर। ११. कुंभ। १२ मीन। इनके स्वामी इस प्रकार हैं—

मेष और वृश्चिक का मंगल। वृष और तुला का शुक्र। मिथुन और कन्य

का बुध। सिंह का सूर्य। धन और मीन का बृहस्पति। मकर और कुम्भ का शनिश्चर। कर्क का चंद्रमा।

(१८)

राग कान्हरौ

पीतांबर की सोभा सखी री, मो पै कही न जाई।
सागर-सुता[1]-पति-आयुध मानौं, बन-रिपु-रिपु मैं देत दिखाई॥
जा रिपु[2] पवन, तासु-सुत-स्वामी[3]-आभा कुंडल कोटि दिपाई।
छाया[4]-पति-तनु बदन बिराजत, बंधुक अधरनि रहे लजाई॥
नाकी-नायक-बाहन की गति, राजत मुरली सुधुनि बजाई।
सूरदास-प्रभु हर-सुत-बाहन, ता[5] पख लै रहे सीस चढ़ाई॥*

शब्दार्थ—सागर०···**आयुध** = सागर सुत ऐरावत हाथी, उसका पति इंद्र उसका आयुध बज्र = बिजली। **बन-रिपु-रिपु**—बन रिपु दावाग्नि, उसका शत्रु मेघ। **जा रिपु०** · **स्वामी** = जिसका रिपु पवन है ऐसा दीपक, सारंग = जल उसका सुत कमल उसका स्वामी सूर्य। छाया-पति = सूर्य। **नाकी०**···**गति** = नाक स्वर्ग, उसका नायक इंद्र, उसका बाहन गज, उसकी गति, गज-गति, अर्थात् हाथी की सी मस्ती से भरी हुई। **हर-सुत-बाहन ता पख** = हर सुत, कार्तिकेय उसका बाहन मोर उसके पंख = मोरपंख।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! मुझसे पीतांबर की शोभा वर्णन नहीं की जाती है। (वह ऐसा प्रतीत होता है) मानों मेघों में बिजली चमक रही हो। कान के कुंडलों में करोड़ों सूर्य का प्रकाश प्रकाशित हो रहा है। मुख पर सूर्य की कान्ति शोभायमान है। अधरों को देख कर दुपहरिया का फूल भी लज्जित होता है। वे मस्ती से भरी हुई सुन्दर मुरली मधुर ध्वनि से बजा रहे हैं और सिर पर मोर-पंख धारण किये हुए हैं।

अलंकार—

१. वस्तूत्प्रेक्षा—

'पीतांबर०··· दिखाई।' इसमें घनश्याम के पीतांबर में मेघों की बिजली

पाठां०—(१) वें. सुता। (२) वें. अरि। (३) तामहिं सुत स्वामी। (४) बाल. छिपा। (५) वें. ता सुत हरि लै सरह बनाई। बाल. ता सुत हरि लै मूँड़ चढ़ाई।

* ना० प्र० ८६६—२४८६। वें० २८३—४५। बाल. २३—१७

की उत्प्रेक्षा की गई है। पीतांबर और बिजली दोनों ही उक्त है। इस लिये उक्तास्पद है।

२. तृतीय प्रतीप—

'बंधुक०……लजाई।' यहाँ बंधूक का अधरों से लजाना, बंधूक उपमान की हीनता सिद्ध करता है। इस लिये तृतीय प्रतीप हुआ।

रस—शृंगार रस, आलंबन वर्णन।

(१६)

राग धनाश्री

स्याम, अचानक आय गए री।

मैं बैठी गुरुजन-बिच सजनी, देखत ही मो नैन नए री॥
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बैंदी सौं कर परस कियौ री।
आप हँसे उत पाग मसकि हरि, अंतरजामी जानि लियौ री॥
लै कर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि उनि हृदै धरयौ री।
चरन छुए, दोऊ नैन लगाए, मैं अपने भुज अंक भरयौ री॥
ठाड़े द्वार रहे अति हितकर, तब ही तैं मन चोरि गयौ री।
सूरदास कछु दोष न मेरौ, इत गुरजन, उत हेतु नयौ री॥*

शब्दार्थ—मसकि = दबाकर।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! श्याम के अचानक आने पर गुरजनों (सास, जिठानी इत्यादि पूज्यों) के पास बैठी होने से, मेरे नेत्र उनको देखते ही नीचे हो गये। तब मैंने एक उपाय सोचकर बैंदी से हाथ लगाया, अर्थात् प्रणाम किया। अंतर्यामी श्री कृष्ण ने समझ कर अपनी पगड़ी दबाई, अर्थात् उन्होंने भी प्रणाम किया। फिर मैंने एक कमल अधरों से स्पर्श किया (यह दिखाने को कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ), उन्होंने हृदय पर रखा (कि तुम मेरे हृदय में बसती हो)। मैंने चरणों से स्पर्श किया (इसका तात्पर्य यह है कि तुम मुझे अपने चरणों की दासी समझो)। उन्होंने नेत्रों से लगाया (कि तुम मेरे नेत्रों में बसती हो) तब मैंने कमल को अपने अंक में भर लिया, अर्थात् मैं तुम्हें आलिंगन करती

पाठां०—ना. प्र. पुनि।

* ना. प्र.—६०२-४६७२। वे. २८४-५५।

हूँ। वे प्रेम पूर्वक मेरे द्वार पर खड़े रहे। तब ही से मेरा मन चोरी हो गया। इस में मेरा कुछ दोष नहीं है। इधर तो गुरजनों की उपस्थिति थी और उधर मेरा नया प्रेम था।

अलंकार—

सूक्ष्म—

इस पद में नायक और नायिका दोनों ने भरे भौन में आपस में क्रिया-द्वारा बात चीत की हैं। इस लिए सूक्ष्म अलंकार है।

लक्षण—

सूच्छम पर आसय लखै, करै क्रिया कछु भाय।
मैं देख्यौ उन सीस मनि, केसन लियौ छिपाय॥

(काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, नायिका क्रिया-विदग्धा।

टिप्पणी—१. सूरदास ने इस भाव का कुछ-कुछ स्पष्टीकरण सखी-द्वारा इस प्रकार कराया है—

राधा भाव कियौ यह नीकौं, तुम बैंदी उन पाग छुई।
ऐसे भेद कहा कोउ जानैं, तुम ही जानौं गुप्त दुई॥
तुम जुहार उनकौं जब कीन्हौं, तुमकौं उनहुँ जुहार कियौ।
एक प्रान, देह द्वै कीन्हें, तुम वे एकै नाहिं बियौ॥
तुव पग परसि नैन पर राख्यौ, उनि कर कमलन हृदै धरयौ।
सूरदास हृदयें उनि राखे, तुम उनकौं लै कंठ भरयौ॥

२. उपर्युक्त पद के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ना० प्र० के कूट पद में 'पुनि' के स्थान पर उनि पाठ ही होना चाहिये।

३. बैंदी०····कियो री। इस भाव को बिहारी ने युक्ति अलंकार में इस प्रकार वर्णन किया है।

न्हाय पहिर पट उठि कियौ, बैंदी मिस परनाम।
दृग नचाय घर कौं चली, बिदा किए घनस्याम॥

(२०)

राग नट नारायन।

सखि, मिलि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ़यौ बिरहनि, निदरि पायौ दाउ॥

हुतासन-धुज जात उन्नत, चल्यौ हरि-दिस बाउ।
कुसम-सर-रिपु-नंद-बाहन, हरषि हरषित गाउ ॥
बारि-भव-सुत-तासु भावरी[1], अब न करि हौं काउ।
बार अब की प्रान पीतम, बिजै-सखा मिलाउ ॥
रति[2] बिचारि जु मान कीन्हौं, सोउ बहि किन्ह जाउ।
सूर सखी सुभाउ रहि हौं, सँग सिरोमनि[3] राउ ॥*

शब्दार्थ—मार = स्मर, कामदेव। निदरि = निरादर करने का। हुतासन-धुज जात = अग्नि की ध्वज से जो उत्पन्न होता है ऐसा बादल। हरि = कामदेव। बाउ = वायु। कुसमसर०·····बाहन = कुसम-सर कामदेव, उसका शत्रु शिव, उनका पुत्र कार्तिकेय, उनका बाहन मोर। बारि-भव-सुत = वारि भव विष, उसका पुत्र मद = अभिमान। भावरी = भावना। बिजै–सखा = अर्जुन के मित्र, श्री कृष्ण। सुभाउ = सीधे स्वभाव।

प्रसंग—वर्षा ऋतु देख कर नायिका अपनी सखी से कहती है।

भावार्थ – हे सखी! तुम सब मिल कर कोई उपाय करो (जिससे कृष्ण मुझे मिल जाँय)। इस समय कामदेव को विरहणी स्त्रियों का निरादर करने का अवसर हाथ लग गया है। इस लिये वह मारने को चढ़ आया है। बादल उठ रहे हैं। काम उत्पन्न करने वाली (त्रिविध समीर) वायु चल रही है। मोर प्रसन्न होकर गा रहे हैं (इससे मैं बहुत दुखी हूँ)। मैं अब अभिमान की भावना भी नहीं करूँगी। मुझे इस बार मेरे प्राण प्यारे कृष्ण से मिला दो। प्रेम के कारण ही मैंने मान किया था, ऐसी दुर्बुद्धि नष्ट क्यों नहीं हो जाती, अर्थात् मैंने कुबुद्धि के कारण हो यह समझ लिया था कि कृष्ण मुझसे असीम प्रेम रखते हैं। मेरे मान करने पर वे मुझे मनायेंगे, परन्तु वह मुझको छोड़ कर चले गये। मैं तो अब रसिक शिरोमणियों में श्रेष्ठ श्री कृष्ण के पास सहज स्वभाव से ही रहूँगी, अर्थात् अब कभी मान नहीं करूँगी।

पाठां०—(१) वें. भावरि। (२) वें. रितु। (३) सिरमनि।

* ना. प्र.—६६२--२७०३। वें. ३०४--५५। नव. ४८१–६३. ७३८, २७७। सर. १३४–५२। पो. ४१३--१६१२। चु. ९५--४०२

अलंकार—

पुनिरुक्ति प्रकाश—

'हरषि हरषित' । यहाँ एक शब्द दो बार आने से अर्थ में सुंदरता आ गई है । इस लिये पुनिरुक्ति प्रकाश अलकार है ।

लक्षण—

एक सब्द बहु बार जे, परै रुचिरता अर्थ ।
पुनिरुक्ति प्रकास तिहिं, भाखत सुकवि समर्थ ॥

(ला० भगवान दीन 'दीन' ।)

रस—शृंगार रस, नायिका-कलहातरिता ।

लक्षण—

कलंहतरिता नारि, अनादर कर पछितावै ।

(कविरत्न 'नवनीत' ।)

टिप्पणी—१. सरदार कवि ने इस पद की इस भाँति टीका की है—

"हे सखी ! उपाउ करो हुतासन धुज जात मेघ बाउ बहन लगो । कुसुम शर रिपु नदन स्वामी कार्तिक बाहन मोर बोले, वारि भव विष सुत मद भावना नहि करि हों, बिजय सखा कृष्ण ।

२. "कुसम सर"- यह लोक प्रसिद्ध है कि कामदेव पुष्प के बाण लेकर संसार के युवक-हृदयों पर प्रहार करता है । उसके पाँच बाण है (१) अरबिंद, (२) अशोक (३) आम्र-मजरी, (४) नव मल्लिका, (५) नीलोत्पल । इन पाँचो पुष्प-बाणों का कार्य क्रमशः सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तंभन है ।

३. कुसुम-सर-रिपु-नंद-बाहन—पुराणों में कथा है कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में जब सती का शरीर नष्ट हो गया, तब भगवान शंकर अचल समाधि लगा कर कैलाश जा विराजे । इधर तारक नाम का असुर इतना प्रबल हो गया कि वह देवताओ से युद्ध मे पराजित ही न होता था । देवता दौड़े हुए ब्रह्मा जी के पास गये । उन्होंने बताया कि शंकर का पुत्र ही तारकासुर का बध कर सकता है, परंतु शंकर जी समाधि में थे । उनकी समाधि किस भाँति भंग हो तथा देवताओ का कल्याण कैसे हो ? यह बात विचारणीय थी । कोई भी शंकर का कोप-भाजन बनने को तैयार न था । अंत में कामदेव ने यह काम अपने हाथ में लिया । कामदेव ने सदल-बल कैलाश पर चढ़ाई की तथा शंकर की समाधि भी भंग कर दी, किंतु शिव ने अपने तृतीय नेत्र को खोल कर उसे भस्म कर दिया । शंकर-पार्वती का

विवाह हुआ। कामदेव को जीवन दान मिला, किंतु अनंग रह कर। शंकर-पार्वती से कार्तिकेय का जन्म हुआ। उसके बाहन के लिए मोर दिया गया। समय पाकर उसने देवताओं का सेनापति बन कर तारकासुर का बध किया।

'स्कंध पुराण' के माहेश्वर खंड में कार्तिकेय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—शंकर-पार्वती विवाह के पश्चात् भगवान शिव, गंधमादन पर्वत पर पार्वती के साथ विलास करने लगे। उस समय उनके दुःसह वीर्य से समस्त चराचर नष्ट होने लगा। यह देख ब्रह्मा तथा विष्णु ने अग्नि को स्मरण किया। अग्निदेव ने वहाँ पहुँच कर, हंस रूप धारण कर पार्वती से भिक्षा माँगी। पार्वती ने भिक्षा रूप में वीर्य दे दिया। इससे वे अत्यधिक संतप्त हो गये। उस समय नारद जी ने अग्निदेव से कहा कि माघ मास में प्रातः स्नान करके जो अग्नि-सेवन के लिए आएँ, उनमें तुम यह तेज स्थापित कर देना। माघ मास में शीत से आर्त हुई कृतकाएँ, अरुंधती के रोकने पर भी आग तापने लगीं। शंकर का वीर्य उनके रोम कूपों में होकर शरीर में घुस गया और वे गर्भवती हो गईं। ऋषियों के शाप से वे नक्षत्र रूप होकर आकाश में विचरण करने लगी और उन्होंने वीर्य को हिमालय के शिखर पर छोड़ दिया। फिर वह गंगा जी में डाल दिया और वह वीर्य बहता हुआ सरकंडों में घिर गया। वहाँ वह छह मुख वाले बालक के रूप में परिणत हो गया। नारद जी ने यह समाचार शंकर-पार्वती को दिया। उन्होंने वहां आकर अपने पुत्र को देखा और वे वात्सल्य स्नेह में मग्न हो गये।

(२१)

राग नट

मिलवहु पार्थ-मित्रहिं आनि।
जलज-[1]सुत के सुत की रुचि करैं, भई हित की हानि॥
दधि-सुता-सुत-अवलि उर पर, इंद्र-आयुध जानि।
गिर-सुता-पति-तिलक करकस, हनत सायक तानि॥
पिनाकी-सुत तासु बाहन, भषक-भष बिष खानि[2]।
साखा-मृग-रिपु बसन मलयज, हित हुतासन बानि॥

पाठा०—(१) ना. प्र. जलधि। (२) नव. पिनाकी सुत तासु बाहन भच्छ को भच्छ बखानि। वें. पिनाकि पति सुत।

धर्म-सुत के अरि-सुभावहिं, तजत धरि सिर पानि ।
सूरदास बिचित्र बिरहनि, चूकि मन-मन मानि ॥*

शब्दार्थ—पार्थ-मित्र=अर्जुन के मित्र श्रीकृष्ण । जलज०…रुचि=जलज, कमल, उसका पुत्र ब्रह्मा, उसका पुत्र नारद, उसकी रुचि कलह । दधि-सुता-सुत=दधि, उदधि समुद्र उसकी सुता सीपी, उसका पुत्र मोती । इंद्र-आयुध=वज्र । गिरि०…तिलक=गिरि-सुता पार्वती, उनका पति महादेव उनका तिलक चंद्रमा । पिनाकी०…भष=पिनाकी, शिवजी, उनका पुत्र कार्तिकेय उनका वाहन मोर, उसका भक्ष वायु । साखा-मृग-रिपु=साखा-मृग बंदर, उसका शत्रु चिरन्चिटा । हुतासन=अग्नि । धर्म-सुत०…सुभावाहिं=धर्म-सुत युधिष्ठिर, उसका शत्रु दुर्योधन, उसका स्वभाव अभिमान । तजत०…पानि=प्रणाम करके छोड़ती हूँ, दूर ही से प्रणाम करती हूँ ।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से ।

भावार्थ—(हे सखी !) श्रीकृष्ण को मुझ से मिला दो । कलह करने से मेरे ही स्वार्थ की हानि हुई है । हृदय पर मोतियों की माला वज्र सी प्रतीत होती है । चंद्रमा अपने किरण रूप बाणों से तान-तान कर प्रहार कर रहा है । जिस प्रकार चिरन्चिटा बंदर को दुख देता है, उसी प्रकार यह वस्त्र भी मुझे दुख दे रहे हैं । मलय-पवन ने अग्नि का रूप धारण कर लिया है, अर्थात् शीतल मंद सुगंधित वायु मुझे जला रही है । अब मैं अभिमान को दूर ही से प्रणाम करती हूँ । इस प्रकार यह विचित्र वियोगिनी अपनी भूल को मन ही मन मान रही है ।

अलंकार—

१. पाँचवी विभावना—

(अ) दधि-सुता०…जानि ।

(ब) साखा-मृग रिपु०…बसन ।

(स) मलयज, हित हुतासन बानि ।

---

* ना. प्र. ६६३–२७०४ । नव. २०५–३४४, ४८२–६४ । वै. ३०४–५६ । रा. क. द्वि. भा. ५२७–२१ । दि. १६१–१०४५ । आ० ६०४–४ । सर. १३५–५३ । पो० ३७७–१३३१ । कां० ४७०–२०६४ । चु० ३५–४७ । बाल० १६–१०

यहाँ उपरोक्त तीनों वस्तुएँ अपने गुण के बिरुद्ध कार्य—स्वभाव ग्रहण कर रही हैं। इस लिए पाँचवी विभावना है।

लक्षण—

काहू कारन ते जबै, कारज होत बिरुद्ध।
करत मोहि संताप यह, सखी सीतकर सुद्ध ॥
(काव्य-प्रभाकर)

२. लोकोक्ति—

'तजत घर सिर पानि'। किसी कार्य को आगे से न करने के लिये, यह एक लोकोक्ति है।

रस—श्रृंगार रस, नायिका-कलहांतरिता।

टिप्पणी—

यहाँ दूसरी पंक्ति का पाठ यदि निम्न-लिखित रीति से हो तो गति-भंग क दोष परिहार हो जाता है। यथा—

"जलज-सुत-सुत रुचि करे तें, भई हितकी हानि।"

(२२)

राग रामकली

सारँग, सारँगधरहिं मिलावहु।
सारँग बिनय करत सारँग सौं, सारँग दुख बिसरावहु ॥
सारँग-समै दहति अति सारँग, सारँग तिनहिं दिखावहु।
सारँग-गति सारँग-धर जे हैं[1], सारँग जाइ मनावहु ॥
सारँग-चरन, सुभग-कर-सारँग, सारँग नाम बुलावहु।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु[2] ॥*

शब्दार्थ—सारंग=अलि, सखी। सारंग-धर=कृष्ण। सारंग=आकाश, अनंत, अत्यंत। सारंग=श्री विष्णु। सौं=सौंगध। सारंग=कामदेव। सारंग=रात्रि। सारंग=चंद्रमा। सारंग=प्रेम पूर्वक। सारंग=कमल। सारंग=भ्रमर। सारंग=हरिण, कुरंग, बिगड़ी हुई। सारंग=सखी।

पा०—(१) वें. सर. सारँग पति सारँग पति धर जै है। (२) वें, सर. जिवावहु।

* ना. प्र. ६६५-२७१५। वें. ३०६-६७। नव. ४८३-७५। कां. ३२१-१४०५। दि. १५३-५६४। सर. ६५-१

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से ।

शब्दार्थ—हे सखी ! मुझे श्री कृष्ण से मिला दे । तुझे विष्णु भगवान की सौगंध है । मैं तुझसे अत्यंत विनय करती हूँ कि मेरे काम के दुख को भुलवा दे । रात्रि के समय चंद्रमा जलाता है; इस लिये श्री कृष्ण को मुझ से मिला दे । यह कृष्ण सर्प की सी चालवाले हैं, अर्थात् शीघ्र क्रोधित हो जानेवाले हैं । इस लिए तू उन्हें प्रेम पूर्वक मना ला । जिन के चरण और हाथ कमल सदृश हैं तथा जो भ्रमर (अनेक फूलों का रस लेने वाला, या अनेक नायिकाओं से भोग करने वाला) नाम से विख्यात है, उन्हें बुला ला । हे बिगड़ी को बनाने वाली ! तू अपनी सखी को मरने से बचाले ।

अलंकार—

१. यमक—

'सारंग' शब्द की आवृति अनेक बार अनेक अर्थों में होने से यमक अलंकार है ।

२. रूपक—

'सारंग-चरन, कर-सारंग' में सारंग उपमान तथा चरन और कर उपमेय हैं, परंतु वाचक और साधारण धर्म का लोप है । इस लिए वाचक-धर्म-लुप्तोपमा अलंकार होना चाहिये था किंतु कवि का उद्देश उपमान की प्रधानता देकर उपमेय की कोमलता अभिप्रेत है, इस लिये रूपक है ।

३. परिकर —

'उपकारिनि' विशेषण साभिप्राय है । यहाँ नायिका का उद्देश यह है कि एक तो तू मेरी सखी है, इस लिए तुझे मेरी हित कामना होनी ही चाहिये । इस पर भी तू 'सारंग उपकारिनि' है, तू बिगड़ी को बनाने वाली है; बिगड़ी को और बिगाड़ने वाली नहीं, इस लिए तू निश्चय ही उसे बुला लावेगी ।

४. परिकरांकुर—

'सारँग नाम बुलावहु ।' इसमें सारंग नाम भ्रमर विशेष्य साभिप्राय है । नायिका के कहने का उद्देश यह है कि नायक तो भ्रमर है, कहीं न कहीं फूलों का रस लेही रहा होगा । उसे तू ही बुला कर ला सकती है ।

लक्षण—

> **परिकर अंकुर नाम, साभिप्राय बिसेष जँह ।**
> **नैंकु न मानत बाम, सूधें हूँ पिय के कहैं ॥**
>
> (काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, नायिका कलंहातरिता।

टिप्पणी—सरदार कवि ने इस भाँति अर्थ दिया है—

"उक्ति सखी की नायिका सों सारंग कही रामपुर ताको नाँव रही श्रेष्ठ हिये की। सरंग आकाश ताको नाम अनन्त सो अनन्त विनय करत हों। सारंग विष्णु तिनकी सोंह तोकों। सारंग सूर्य तिनको नाम तपन जो काम की ताप है सो बिसराय दे। सारंग रात्रि तामें कहै है अति सारंग हृदय कमल जिनको जो साराँग कृष्ण चन्द्र है सो दिखावहु। साराँग दीप ताको पति दीप्ति तासों घर जै है। यह लोकोक्ति है कि दिया घर जै है। सारंग नेह, मनावहु नाम मिलावहु। सारंग नाम कमल है कर कमल जिनके, सारंग नाम भ्रमर सो अलि बुलावहु। सारंग मृग ताको नाम कुरङ्ग, हे कुरङ्ग की उपकारिनि! सारंग जो में तेरी सखी सो मरत हौं जियावहु।"

(२३)

राग सारंग

अद्भुत एक अनूपम बाग।

जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंघ करत अनुराग॥

हरि पर सरबर, सर पर, गिरबर, गिर पर[1] फूले कंज पराग।

रुचिर कपोत बसै ता ऊपर, ता ऊपर[2] अमृत फल लाग॥

फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक मृग-मद काग[3]।

खंजन, धनुष, चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर[4] इक मनिधर नाग॥

अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताकौ करत न त्याग[5]।

सूरदास प्रभु पियौ सुधा-रस मानौं अधरन के बड़ भाग॥*

पा०—(१) बाल. तापर। (२) बाल. तापर अरुन। (३) बाल. तहाँ रहत सुक-पिक मृग काग। (४) बाल. तहाँ रहत।

(५) नव. यह सरवर सोहत नहि कबहूँ सोभा छिनहु करत नहिं त्याग।
सूरदास स्वामिनी रसिक बर, तुव हित बाढ़यौ सिंधु सुहाग॥
बाल.—यह रस बिरस होत नहिं कबहूँ, सोभा सहज करत नहिं त्याग।
सूरदास स्वामिनी रसिक बर, तुव प्रति बाढ्यौ सिंधु सुहाग॥

* ना. प्र. ६६६—२७२८। वें ३०७—८०। नव. १८१—१८२, ४८५—८८। रा. क. द्वि. भा. २१०—३। दि. १५३—६०२। मथु. ६६—१४६। सर. ६६—२। पो. ३१०—६८६। कां ६६—१, २७५—१४५४। का. ला. ३२३—१४१३। बाल. ३७—२६।

शब्दार्थ—**बाग**=वाटिका, नायिका रूपी वाटिका। **कमल**=चरण-कमल। **गज**=हाथी, हाथी की सी चाल। **सिंह**=सिंह की सी कटि। **सरवर, सर**=सरोवर, नाभिकुंड। **गिरवर, गिर**=पहाड़, कुच रूपी पहाड़। **कंज**=कमल, हस्त कमल। **कपोत**=कबूतर, कपोत जैसी ग्रीवा। **अमृतफल**=आम, आम जैसी चिबुक। **पुहुप**=पुष्प, अधर पुष्प। **पल्लव**=पल्लव जैसे ओष्ठ। **शुक**=तोता जैसी नासिका। **पिक**=कोकिल, कोकिल जैसी मधुर वाणी। **मृग-मद काग**=मृग-मद कस्तूरी, काग बैंदी, कस्तूरी की बैंदी। **खंजन**=खंजन जैसे नेत्र। **धनुष**=कमान, भौंह-कमान। **चंद्रमा**=भाल चंद्र। **मनिधर नाग**=सीसफूल सहित वेणी।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से। नायिका-सौंदर्य वर्णन।

भावार्थ—एक अद्वितीय, विचित्र नायिका रूपी वाटिका है। जिसमें दो कमलों पर गजराज क्रीड़ा कर रहा है (चरण-कमलों पर हाथी जैसी चाल है)। उस पर सिंह जैसी कटि है। सिंह पर सरोवर, सरोवर पर पहाड़ और पहाड़ पर पराग सहित कमल फूले हैं (कटि पर नाभि, नाभि पर कुच और कुचों पर मेंहदी लगे हाथ हैं)। उस पर एक सुंदर कपोत है, उस पर आम हैं (ग्रीवा पर चिबुक है)। आम पर पुष्प, पुष्प पर पल्लव और पल्लव पर शुक, पिक, मृग-मद काग है (चिबुक पर अधर, अधर पर ओष्ठ, ओष्ठ पर नासिका है, पिक-सी वाणी है और भाल पर काग-रूप कस्तूरी की बैंदी है)। उसके ऊपर खंजन है, खंजन पर कमान, कमान पर चंद्रमा और चंद्रमा पर एक मणिधर सर्प है। (उसके नेत्रों पर भौंह, भौंह पर भाल और भाल पर सीस फूल सहित वेणी है)। उसके अंग-अंग की और-और ही छवि है, जिसकी उपमा कभी भी त्याग नहीं करती। हे प्रभो! यदि आप चलकर उसके सुधाधरों का सुधा पान करेंगे, तो आपके अधरों का बड़ा भाग्य होगा।

अलंकार—

१ रूपकातिशयोक्ति—

सम्पूर्ण पद में नायिका के अंग उपमानों का ही वर्णन है।

२ फलोत्प्रेक्षा असिद्धास्पद—

'मानौं अधरन के बड़ भाग', सुधा-पान करना नायक के अधरों के बड़े भाग होने का फल नहीं, फिर भी अफल को फल मानकर यहाँ उत्प्रेक्षा की गई।

इस लिए फलोत्प्रेक्षा हुई। इसमें सुधा-पान अप्रसिद्ध वस्तु है। इस लिए असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा हुई।

लक्षण—

जहाँ अफल को फल कह कर उत्प्रेक्षा की जाय उसे फलोत्प्रेक्षा कहते हैं अर्थात् जो फल न हो उसे फल-कल्पना किया जाय।

(काव्य-कल्पद्रुम)

३. भेदकातिशयोक्ति—

'अंग-अंग प्रति और-और छबि'। यहाँ अंग-अंग के विषय में यह कहा गया है उसकी छबि कुछ और-और ही है। अतः भेदकातिशयोक्ति हुई।

लक्षण—

भेदकातिसयोक्ति बहु, औरैं बरनत जात।
औरैं हँसिबौ, बोलिबौ, औरैं याकी बात॥

(काव्य-प्रभाकर)

४. मुद्रा—

इस पद में नायिका के अंग की उपमाओं के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के भी नाम निकलते हैं।

लक्षण—

मुद्रा प्रस्तुत पद बिषै, औरैं अर्थ प्रकास।
मन मरालनी के धरैं, तुव पद मानस आस॥

(काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, आलंबन विभाव में नख-शिख का वर्णन, सखी कर्म संघट्टन।

टिप्पणी—१. उस बाग में विचित्रता क्या? कोमल कमल पर हाथी जैसी स्थूल वस्तु है। हाथी और सिंह में सहज बैर है, सो अपना बैर त्याग कर सिंह हाथी के ऊपर बैठा है। और भी इसी प्रकार समझ लो।

२ बालकिशन ने इस अद्भुतपन का दूसरा ही कारण दिया है—

"यहाँ अद्भुत यह। जाके केवल उपमान को कथन प्रगट है। सो तो मुख्य अर्थ असंभव है, सो इहाँ संभावित कहिये हैं। तासों आश्चर्य है। तातें इहाँ साध्यवसानालक्षणा करि सादृश्य संबंध सों उपमान प्रगट कथन है जो कमल

तें नाग पर्यंत तातें चरन तें बेनी पर्यंत जो उपमेय ताकों ग्रहन करिये तब उचितार्थ होय।"

३ 'विद्यापति' ने भी इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति में नख-शिख वर्णन किया है—

साजनि अकथ कहि न जाए।
अबल अरुण ससिक मंडल, भीतर रह नुकाए॥
कदलि ऊपर केसरि देखल, केसर मेरु चढ़ला।
ताहि ऊपर निसाकर देखल, किर ता ऊपर बइसला॥
कीर ऊपर कुरंगिनि देखल, चकित भमए जनी।
कीर कुरंगिनि ऊपर देखल, भमर ऊपर मनी॥
एक असम्भव आओ देखल, जल बिना अरबिंदा।
बेबि सरोरुह ऊपर देखल, जैसन दूतिय चंदा॥
भन विद्यापति अकथ कथाई, रस केओ केओ जान।
राजा सिवसिंह रूप नरायन, लखिमा देवि रमान॥

४ कविरत्न 'नवनीतजी' ने भी इसी प्रकार नायिका का वर्णन किया है—

कंजन पै कदली कपूर-भरी तापै ताल,
तालन पै तरुन सिंघ सोभित सचित है।
'नवनीत' सिंघ पै सरोवर त्रबलि तीर,
तापै चक्रवाक-जोट जौहर जटित है॥
चारु चक्रवाकन पै कलित कपोत एक,
पंकज सनाल द्वै रसाल सरसत है।
घन में बिज्जु, बिज्जु, ऊपर सफरि-चंद,
चंद पै राहु तापै सूरज नचत है॥

(२४)

राग राम कली

पदमिनि सारँग एक मँझारि।
आपहिं सारँग नाम कहावै, सारँग बरनी बारि॥
तामैं एक छबीलौ सारँग, अध सारँग उनहारि।
अध सारँग पर सकलइ सारँग, अध सारंग बिचारि॥

तामैं सारँग-सुत सोभित है, ठाढ़ी सारँग भारि।
सूरदास प्रभु तुमहूँ सारँग, बनी छबीली नारि॥*

शब्दार्थ—पदमिनि = कमलनी, पद्मिनी जाति की नायिका। **सारँग** = सरोवर। **सारँग** = नारि और कमलिनी। **सारँग** = स्वर्ण, सरस, घनश्याम। **बरनी** = वर्ण वाली। **बारि** = पानी, न्योछावर करना। **सारँग** = हंस, हंस जैसी चाल। **अध सारँग** = आधा हाथी अर्थात् सूड़ ही सूँड़ हाथी के सूँड़ जैसी जंघा। **उनहारि** = सम-रूप। **सकल सारँग** = सभी सारंग। सारँग = चंद्रमा। **सारँग-सुत** = भौंरे का बच्चा। **सारँग** = केश, शोभा, काम, आभूषण।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

भावार्थ—रूप के सरोवर में एक पद्मिनी (पद्मिनी जाति की नायिका, कमलनी) है, जो स्वतः सारंग (कमलनी और स्त्री दोनों का पर्याय सारंग है) कहलाती तथा स्वर्ण रंग के पानी से पूरित है, (सरोवर पक्ष में—सरस पानी भरा हुआ है, नायिका पक्ष में—स्वर्ण रंग वाली आभा है अथवा उस पर स्वर्णांगी न्योछावर हैं), उसमें एक सुंदर हंस (नायिका पक्षमें—हंस की सी चाल है) फिर उसमें आधा सारंग (सरोवर पक्ष में—हाथी की सूँड है, सरोवर पर जब हाथी पानी पीने को आता है, तो पानी में केवल उसकी सूंड ही रहती है। नायिका पक्ष में—सूंड़ जैसी जंघा हैं, उस अध-सारंग पर फिर सारंग ही सारंग हैं (सारंग सिंह सी कटि सारंग, हृदय कमल, सारंग चक्रवाक से कुच, सारंग कमल जैसे हाथ, सारंग संख जैसी ग्रीवा और उस पर सारंग चंद्र जैसा मुख है), परंतु यह मुख चंद्र आधा है, अर्थात् आधा घूँघट से ढका हुआ है। उस आधे ढके हुए में भौंरे का बच्चा रूपी तिल शोभायमान है। वह केशों, आभूषणों, शोभा और काम के भार से (दबी-सी) खड़ी हुई है। हे प्रभु! आप भी सारंग (घनश्याम) हैं और वह छबीली नारि भी सारंग है। आप दोनों ही समान हैं। इससे आप उससे मिलें (सखी के कहने का तात्पर्य यह है कि नायिका तो केशादि भारों के कारण चल भी नहीं सकती अन्यथा वह आपके पास अवश्य आ जाती। इस लिए आपको उचित है कि आप स्वयं ही पधार कर उससे मिलें)।

* ना. प्र. ६६६-२७२६। वें ३०७-८१। सर. ६६-३।

अलंकार—

१. यमक

'सारंग' शब्द की अनेक बार अनेक अर्थों में आवृति होने से।

२. सम—

आप भी सारंग हैं और नायिका भी सारंग है। इसलिए सम हुए। अतः सम अलंकार है।

> सम भूषन है तीन बिधि, यथा जोग कौ संग।
> हार कठिन तिय उर बस्यौ, जोग कठिन सोइ अंग।

(काव्य-प्रभाकर)

३. सांग रूपक—

यहाँ नायिका और सरोवर में पूर्ण सावयव आरोप्य और आरोप्यमान होकर आये हैं, इसलिए सांग रूपक है।

(काव्य-कल्पद्रुम)

रस—शृंगार रस, आलंबन विभाव-अंतर्गत नख-शिख वर्णन।

टिप्पणी—इस पर सरदार कवि ने इस भाँति टीका की है—"पद्मिनि इति – उक्ति सखी की नायक सों। सारंग मेघ, तासु नाम धाराधर ताके मध्यवर्ण राधा, सो राधा आप वो स्त्री नाम कहावै, तापै सारंग चन्द्र सो मुख चन्द्र आधो, चन्द्र सो आधो जो है चन्द्र मुख तापै सकलै सारंग जो है राका शशि सो आधो जानो जाय है। ताही मुख में सारंग-सुत हरिण-शावक-तद्वत नयन सो है ठाड़ी, सारंग कहै शोभा के, ते सूरदास प्रभु तुमहूँ सारंग। सखी कहै है कि प्रभु तुमहूँ रंगीले, नारि हू छबीली है ताते मिलो।"

२. जाति-भेद के अनुसार नायिका की चार जातियाँ हैं, पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्तिनी। उनमें पद्मिनी सबसे श्रेष्ठ होती है। 'पद्मिनी'-लक्षण निम्न है—

> अल्प रोष तन सुंदरी, पदमिनि तन सुकमार।

(काव्य-प्रभाकर)

३. पद्मिनी०...मँझारि—

महाकवि कालिदास ने रघुवंश के अष्टम सर्ग में इंदुमती के लिए अज द्वारा इसी प्रकार की भावना व्यक्त कराई है—

नलिनी यह उपजी सर माँही । त्यों हिम से कस सन नसि जाही ॥

(सीताराम-कृत रघुवंश-अनुवाद)

४. ठाढ़ी सारँग भारि—

(अ) केशो के अर्थ में एक उर्दू कवि की उक्ति है—

नाज़ुक कमर लचक गई बालों के भार से ।
सीना पसीना हो गया फूलों के हार से ॥

(क) शोभा और आभूषण-अर्थ में मानों विहारी ने इस सूत्र की व्याख्या ही कर दी है—

भूषन भारि सभाँरि हैं, क्यौं तन यह सुकमार ।
सूधे पाय न धर परत, सोभा ही के भार ॥

विहारी की नायिका जहाँ शोभा-भार के कारण किसी भाँति लस्टम-पस्टम चल लेती है, वहाँ सूरदास-द्वारा वर्णन की गई नायिका केश, भूषण, शोभा का भार ही कारण नहीं, काम-पीडा के भार से भी अत्यंत बोझिल है, जिससे वह चल-फिर तो सकती नहीं, खड़ी की खड़ी ही रह जाती है ।

(च) केशवदास ने रसिक-प्रिया में भी इसी भाँति का एक कवित्त लिखा है—

दुरि हैं क्यौ भूषन, बसन दुति जोवन की,
देह ही की जोति होति द्यौस ऐसी राति है ।
नाहक सुबास लागैं ह्वै है कैसी 'केसव,
सुभाव ही की बास भौंर-भीर फारैं खाति है ॥
देखि तेरी सूरत की मूरत बिसूरत हौं,
ललन के दृग देखिबे कौं ललचात है ।
चलि है क्यौं चंद-मुखी कुचन कौ भार भएँ,
कचन के भार तौ लचक लंक जाति है ॥

५ सूरदास० ·· नारि—

इस समता मे विहारी ने भी समता लाने की चेष्टा की है—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यौं न सनेह गँभीर ।
को घट ए बृषभाँनुजा, वे हलधर के बीर ॥

इसमें बृषभानुजा और हलधर के बीर में श्लेष है, वहाँ सारंग में भी है, किंतु जहाँ गाय और बैल के रूप मे समानता दीखती है, वहाँ कुछ परिहास का

ही रूप अधिक बनता है, किंतु सारंग से अनेक प्रकार की समानता हो जाती है और यही उसकी विशेषता है।

(२५)

राग रामकली

बिराजति, एक अंग इति[1] बात।
अपने कर करि लिखे[2] बिधाता, षट खग, नव जलजात॥
द्वै पतंग, ससि बीस, एक फनि, चारि बिबिध रँग धात।
द्वै पक बिंब, बतीस बज्र-कन, एक जलज पर थात[3]॥
इक सायक, इक चाप चपल अति, चितवत चित्त बिकात[4]।
द्वै मृनाल,[5] मालूर उभै, द्वै कदलि-खंभ बिनु पात[6]॥
इक केहरि, इक हंस गुपत रहैं, तिनहिं[7] लग्यौ यै[8] गात।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे मिलन कौं,[9] अति आतुर अकुलात॥*

शब्दार्थ—षट खग=छह पक्षी, [(१) भौंरा, जिसकी उपमा केशों से दी जाती है, (२) खंजन नैन, (३) शुक सी नासिका, (४) पिक स्वर, (५) कपोत, कंठ, (६) हंस-गति]। नव जलजात=नौ कमल (दो चरण कमल, दो कर कमल, एक हृदय कमल, एक नाभि कमल, दो नेत्र कमल और एक मुख कमल)। द्वै पतंग=दो कर्णफूल रूपी सूर्य। ससि=चंद्रमा, नख चंद्र। फनि=सर्प, वेणी रूपी सर्प। चारि०...धात-चार विविध रंग की धातुएँ (१) कंचन सी देह, (२) रजत सा हास्य (३) ताम्र वर्ण कर और (४) लौह रूप केश। पिक=कोयल सी वाणी। बिंब-कुंदरू का फूल। बज्र-कन=हीरा जैसे दाँत। जलज=कमल, मुख कमल। सायक=बाण, कटाक्ष। चाप=धनुष, धनुष जैसी भौंह। मृनाल=मृणाल, कमल की डाँड़ी जैसी भुजा। मालूर=विल्वफल, विल्व जैसे कुच। केहरि=सिंह जैसी कटि। हंस-हंस जैसी गति।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

पा०—(१) सर. रति, बाल. एति। (२) बाल. रची। (३) बाल. एकहि जलधर तात। (४) बाल. चिबुक में चित्त बिकात। (५) ना. प्र. मृणाल, वें. मातुल। (६) बाल. द्वै मंडल के मोल उभै कंज द्वै कदली बिनु पात। (७) बाल. ताहि। (८) बाल. सब। (९) बाल. मिलबे कारन।

ना. प्र. ९७०--२७३० । वें. ३०७--८२ । सर. ९७--४ । बाल ३३--२४ ।

भावार्थ—नायिका के अंगों में इतनी बातें शोभा दे रही हैं, ब्रह्मा ने अपने हाथों से उसकी देह में छह पक्षी और नौ कमलों की स्थापना की है (शब्दार्थ देखो)। दो सूर्य रूप कर्ण फूल हैं, बीस नख-चंद्र हैं, एक सर्पाकार वेणी और चार विविध रंग की धातुएँ हैं। दो पके बिंबाफल रूपी अधर हैं। बत्तीस हीरा जैसे दाँत हैं, जो एक ही मुख रूपी कमल पर स्थित हैं। बाण रूपी कटाक्ष, भौंह रूपी धनुष हैं, जिसको देख कर चित्त बिक जाता है (परबस हो जाता है)। दो मृणाल रूपी भुजाएँ हैं, दो बिल्व-फल जैसे कुच और बिना पत्ते की कदली के खंभ जैसी जंघाएँ हैं। सिंह रूपी कटि है, एक हंस जो दिखाई नहीं देता (जब नायिका चलती है तभी वह हंस जैसी चाल दिखाई देती है)। उनसे ही उसकी देह बनी हुई है। हे प्रभु ! तुम्हारे मिलने को वह अत्यंत आतुर होकर अकुला रही है (इस लिये आप उससे चल कर मिलें)।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

इसमें खग, जलजात, पतंग, ससि, फनि, पिक इत्यादि केवल उपमानों का ही वर्णन है। इसलिए रूपकातिशयोक्ति है।

२. लोकोक्ति—

'अपने · विधाता'। किसी अत्यंत सुंदर वस्तु की प्रशंसा करने के लिए यह एक लोकोक्ति है कि ब्रह्मा ने उसे अपने हाथ से ही गढ़ा है।

रस—शृंगार रस, आलंबन नायिका-वर्णन।

टिप्पणी—

बालकिशन ने 'षट खग' की विवेचना इस प्रकार की है—"षट खग पक्षी हैं। दोय तो चकोर पक्षी सो तो नेत्र हैं। चकोर कैसे चतुर हैं। और जैसें अत्यंत प्रीत सों चंद्रमा कों अवलोकन की लग्न है तैसें नेत्र हू मुष चंद सोहैं। और खंजन पक्षी दो हैं सो तो नेत्र की अत्यंत चंचलताई है। कोई कहे जो नेत्रन कों तो पहले चकोर कहे हैं फेर खंजन हूँ कहे सो कैसैं। तहाँ कहत हैं, जो गुन के भेद सों कहे हैं तातें दोष नहीं। ताही तें सूरदासजी ने कहे हैं सो एक अंग एती बात। एक अंग में गुन के भेद सों अनेकन की उपमा हैं। अतएव आगे कमल की गिनती में हूँ गिनावैंगे। ऐसे पक्षी ४ भये। और बानी है सो कोकिला है। नासिका है सो सुक है या भाँति षट पक्षी भये।" इसी प्रकार चार विविध रंग की धातुओं का अर्थ चार विविध रंग के फूलों से गुथी चोटी किया है।

(२६)

राग धनाश्री

मनसिज माधौ[1], मानिनिहिं मारि है ।

त्रोटि पर लव अरति परमौ अर, निरखि निमुख को तारि है ॥
किसलय कुसुम कुंत सम सायक, पायक पवन बिचारि है ।
द्रुम बल्ली यै दीप जुग बनी, जनति अनल त्रिय जारि है ॥
भँवर जु एक चक्रत चामीकर, भरि बंदुख खग डारि है ।
पुनि-पुनि बाज-साज सुनि सुंदरि, त्रसित तिनहिं देखे मारि है ॥
बिरह बिभूति बढ़ी बनिता बपु, सीस जटा बने बारि है ।
मुख ससि सेस रह्यौ सित मानौं, भई तमौ उनहारि है ॥
जो न इते पर चलहु कृपानिधि, तौ वह निज कर सारि है ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, तुम तजि काहि पुकार है ॥*

शब्दार्थ—**माधौ** = बसंत, श्री कृष्ण । **त्रोटि** = त्रुटि, समय का एक भाग जो दो क्षण के बराबर होता है, कोई कोई चार क्षण को भी त्रुटि बतलाते हैं । **लव** = कई त्रुटि का लव होता है । **अरति** = विरक्त। **परमौ** = परम, बड़ा । **अर** = हठ । **पायक** = सहायक । **अनल** = अग्नि । **चामीकर**—धतूरा, मत्त ।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से ।

भावार्थ—हे माधव ! वसंत ऋतु में कामदेव मानवती नायिका को मार डालेगा। (यद्यपि वसंत ॠतु आते ही वह) त्रुटि से लव होते ही, अर्थात् कुछ ही क्षणों में अपने हठ से विरक्त हो गई, अर्थात् उसने अपना मान त्याग दिया है । उसको इस अवस्था में नीचा मुख किये हुए (दुखी देख कर) कौन रक्षा करेगा? क्योंकि (नवीन) पल्लव और पुष्प उसे भाला और बाण के समान लग रहे हैं और पवन भी उन्हीं का सहायक हो रहा है, अर्थात् वासंती वायु भी उसे दुख दे रही है । यह वृक्ष और बेलें दीपक बन कर अपनी अग्नि से उसे जला देंगी, और मत्त भौंरा अपनी भन-भनाहट रूपी बंदूक से पक्षी रूपी जीव को मार गिरायेगा । बार-बार (पक्षियों के कलरव रूपी) बाजों को सुना कर उस त्रसित सुंदरी को कामदेव और भी डरा रहा है । उस नायिका की देह में विरह की

पा०—ना. प्र. (१) माधवैं ।

ना. प्र. ६७१-२७३४ । सर. ६०-५ । वें ३०८-८ ।

विभूति चढ़ गई है। सिर के केश भी जटा बन गये हैं और मुख-चंद्र की आभा नाम मात्र को शेष रह गई है (इससे चंद्रमा द्वितिया का चन्द्रमा प्रतीत होता है) और वह विरह-दुख के कारण कृश गात होकर अंधकार के समान काली पड़ गई है (सखी का कहने का तात्पर्य यह है कि कामदेव ने उस विरहणी को शंभु समझ कर उस पर चढ़ाई कर दी है)। हे कृपानिधि ! जो आप इतने पर भी उससे नहीं मिलेंगे, तो वह आत्मघात कर लेगी, क्योंकि हे रसिक शिरोमणि ! (उसे तो आपका ही सहारा है) वह आपको छोड़ कर (अपनी रक्षा के लिए) किसे पुकारेगी।

अलंकार—

१. वृत्यानुप्रास—

'मनसिज०.......मारि है,' यहाँ 'म' की आवृति अनेक बार होने से वृत्यानुप्रास है।

२. धर्म-लुप्तोपमा—

'किसलय०.......सायक', यहाँ किसलय और कुसुम उपमेय, कुंत और सायक उपमान तथा सम वाचक है, किंतु साधारण धर्म का लोप है।

३. सांग रूपक—

'विरह०....उनहारि है', यहाँ नायिका में महादेव का सावयव आरोप है। इस लिये सांग रूपक है—

रस—श्रृंगार रस, विप्रलंभ श्रृंगार, सखी का नायक से विरह निवेदन।

टिप्पणी—हिन्दी के अनेक कवियों ने विरहिणी नायिका में शंभु की कल्पना की है। प्रत्येक ने उसे अपने-अपने रूप में ढाला है, परन्तु इसका मूल निम्न श्लोक है—

जटानेयं वेणी कृत कच कलापो न गरलम्,
गले कस्तूरीयं शिरसि शशि रेखा न सुमनम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रिय विरह जन्या धवलिमा,
पुराराते भ्रान्त्या कुसुमसर ! किम माम् व्यथियसि॥

सूरदास ने अपने निम्न लिखित पद में शिव के रूपक का बहुत खुलासा वर्णन किया है—

सिव न, अबध सुंदरी, बधौ-जन।
मुक्ता माँग अनंग, गंग नहिं, नव सत साजैं अर्थ स्याम घन॥

भाल तिलक उड़पति न होय यह, कबरि ग्रथित अहिपति न सहस फन ।
नहिं बिभूति, दधि-सुत न कंठ जड़, यह मृग-मद चंदन चर्चित तन ॥
नहिं गज-चर्म सु असित कंचुकी, देखि बिचारि कहाँ नंदी-गन ।
सूर सु हरि अब मिलहु कृपा करि बरबस सरम करत हठ हम सन ॥

(२७)

राग नट

रसना, जुगल रसनिधि बोल ।
कनक-बेलि तमाल अरुझी, सुभुज बंध अखोल ॥
भृंग-जूथ सुधा करनि मनु, सघन आवत जात ।
सुरसरी पर तरनि-तनया, उमँगि तट न समात ॥
कोकनद पर तरनि तांडव, मीन-खंजन संग ।
कीर[1] तिल जल सिखर मिलि जुग,[2] मनौं संगम रंग ॥
जलद तैं तारा गिरत खसि, परत पयनिधि माँहिं ।
जुग भुजंग प्रसन्न मुख ह्वै, कनक-घट लपटाँहिं ॥
कनक संपुट कोकिला रब, बिवस ह्वै दै दान ।
बिकच कंज अनारँगी[3] पर लसि[4] करत पय पान ॥
दामिनी थिर, घन घटाचर, कबहूँ ह्वै इहि भाँति ।
कबहुँ दिन उद्योत, कबहुँ, होत अति कुहु राति ॥
सिंघ मध्य सनाद मनि-गन, सरस सर के तीर ।
कमल जुग बिनु नाल उलटे, कछुक तीच्छन-नीर ॥
हंस सारस[5] सिखर चढ़ि-चढ़ि,[6] करत नाना नाद ।
मकर निज पद निकट बिहरत, मिलन अति अहलाद ॥
प्रेम-हित कै[7] छीर-सागर, भई मनसा एक ।
स्याम मनि के अंग चंदन, अमी के अभिषेक ॥
सूरदास सखी सबै मिलि, करति बुद्धि बिचार ।
समय सोभा लग रही, मनु सूम[8] कौ संसार ॥ *

पा०—(१) वें. करति लाजै । (२) वें. कै । (३) वें. अनार लगि । (४) वें. लगि । (५) ना. प्र. साखा । (६) वें. दोऊ । (७) वें. करि । (८) नव. सुमन ।

* ना. प्र. ६७७--२७५० । वें. ३१०--१ । नव. ४८७--१०३ । मथु. ६६--१५३ । सर. ६६--६ । पो. ६६--१०६ ।

शब्दार्थ—कनक-बेलि=हेमलता। भृंग=भौंरा। सुधा करनि=चंद्रमा। तरनि-तनया=सूर्य की पुत्री यमुना। कोकनद=कमल। उद्योत=उदय होता है। कुहू=अमावस्या।

प्रसंग—भक्त सूरदास अपनी रसना को प्रबोधते हुये राधा-कृष्ण की केलि का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—हे रसना! (चूँकि तेरा नाम रसना है, तुझ में रस नहीं है इस लिए अपने को रस रूप बनाने को) तू रस-निधि (प्रिया-प्रीतम राधा-कृष्ण) का नाम कीर्तन कर। (उनका युगल स्वरूप कैसा है) हेमलता रूपी राधा, अपनी भुजाओं को खोल कर श्याम-तमाल से लिपटी हुई हैं। उनके खुले मुख-चंद्र पर बगरे हुए बाल घनश्याम की देह पर पड़ रहे हैं, मानों भौंरों का समूह चंद्रमा से लगा हुआ बादलों में जा रहा हो, अथवा गंगा पर यमुना बिहार कर रही हो और उमंग कर किनारों पर नहीं समा रही हो। श्रीकृष्ण के नील कमल रूपी मुख पर राधा के कर्णफूल रूपी सूर्य नृत्य कर रहे हैं। राधा के खंजन से नेत्र श्रीकृष्ण के मुख चंद्र पर नेत्र रूपी मछलियों को देख रहे हैं, अर्थात् राधा के नेत्र श्रीकृष्ण की आँखों में आँख डाले हु! देख रहे हैं। नासिका रूपी शुक ऊँचे चढ़कर रंग-सहित संगम कर रहा है, अर्थात् नासिका से नासिका मिली हुई है। मेघ रूप केशों से खिसक-खिसक कर सितारे रूपी तारे कुचों पर पड़ रहे हैं। दो प्रसन्न मुख सर्प (फन फैलाये हुए) स्वर्ण कलश से लिपटे हुए हैं, अर्थात् कृष्ण के हाथों ने राधा के कुचों को पकड़ रखा है। स्वर्ण के संपुट से कोकिला के शब्द विवश होकर निकल रहे हैं (राधा के मुख से रति के समय के कुछ शब्द निकल रहे हैं)। खुला हुआ कमल अनार से लगा हुआ पय-पान कर रहा है, अर्थात् वे नायक-नायिका चुंबन कर रहे हैं। बिजली रूपी नायिका कभी तो घनश्याम (कृष्ण) में स्थिर हो जाती है और कभी चंचल हो जाती है। कभी दिन के समान प्रकाश हो जाता है और कभी अमावस्या के समान अंधकार हो जाता है, अर्थात् नायिका के मुख पर केश आ जाने से अंधकार और हट जाने पर प्रकाश हो जाता है। सरस सर के तीर, अर्थात् भ्रम के समीप सिंहसी कटि चारों ओर सनाद मणिगण अर्थात् शब्द करती हुई करधनी है। दो कमल बिना मृणाल उलटे हुये हैं (पद कमल) और कुछ पानी की धारा बह रही है। हंस रूप नूपुर सारस रूप नायक के कंधे रूपी शिखर पर चढ़ कर अनेक प्रकार के शब्द कर रहे हैं। इस प्रकार मकर

(कृष्ण के मकराकृत कुंडल) श्रीप्रियाजी के चरणों के निकट बिहार कर रहे हैं, अर्थात् श्री कृष्ण का मस्तक प्रियाजी के चरणों के समीप रहता है और उनके मिलने से अत्यन्त प्रसन्नता होती है। प्रेम का कारण, वही हुआ क्षीर सागर, उसी में विहार करने को दोनों की मनसा एक हो गई है, अर्थात् प्रिया-प्रीतम दोनों प्रेम में लवलीन हैं। श्यामसुन्दर रूपी मणि की चन्दन चर्चित देह अमृत से अभिषेक की हुई प्रतीत होती है। सब ही सखी गण इस (राधा-कृष्ण लीला) पर विचार कर रहीं थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि यह सूम का संसार है, अर्थात् जिस प्रकार सूम धन संचय के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचते उसी प्रकार गोपियों को भी राधा-कृष्ण-गुणानुवाद के अतिरिक्त और किसी विषय पर बात अच्छी नहीं लगती है।

अलंकार—

१. विभावना प्रथम—

'रसना जुगल रस निधि बोल' यहाँ रसना में रस न होते हुए भी वह जुगल रस निधि बोल रही है। इस लिये विभावना प्रथम हुई।

२. परिकरांकुर—

रसना—यहाँ रसना विशेष्य साभिप्राय है इसी लिये परिकरांकुर भी है।

३. वस्तूत्प्रेक्षा—

'भृंग जूथ० ..... जात'।

यहाँ 'मुख पर पड़ने वाले बगरे (बिखरे) हुए बालों की उत्प्रेक्षा सुधा करनि और भृंग जूथ से की गई है।

३—रूपकातिशयोक्ति—

(अ) कनक बेलि०.......अखोल।

(क हंस०...... नाम।

इसमें केवल उपमानों का ही वर्णन है।

४. लोकोक्ति—

'सूम कौ संसार' यह एक लोकोक्ति है—

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार, केलि वर्णन।

टिप्पणी—१. सरदार कवि कृत टीका इस भाँति है—

"रसना इति। उक्त सखी की सखी सों। युगल रस निधि की जो है रसना सो बोलती है। कनक बेलि जो नायिका अरु नायक जो तमाल है तासों अरुझी

है। सुंदर जो भुजा है तिन सों बाँध के भृंग जो है केश सो सुधा मुख तिन में सघन आवत जात है अरु सुरसरी जो मांग तामें तरिनजा यमुना सो पाटी तटन में नहीं समाती अरु कोकनद कमल मुख तरयौना सूर्य नृत्य करत है। मीन खञ्जन रूपी नेत्र तिलक सङ्ग में और कीर नायिका अरु तिल तिल जल स्वेद सिखर ऊँचे पै सङ्गम में रङ्ग को है अरु जलद मेघ केश तिन ते तारे मुक्ता पै निधि कुच पै परत हैं। और जुगल भुज नायक के हाथ प्रसन्न मुख ह्वै कनक घट लपटाये हैं। अरु कनक संपुट कुच कोकिला बानी के वश कै अपने शरीर को दान करत है। अरु दामिनी नायिका, घन नायक कबहू थिर ह्वै है अरु कबहु भूषण तन के प्रकाश ते दिन होइहै अरु केशन के अच्छादन कबहु अमावस की राति होय है अरु सिंह कटि तापै सब्द करै है किङ्कणी नारी सरस जो नायिका के सर के तीर हंस जो नूपुर है सो नायक के कंध शिखिर अग्र भाग तापर नाना शब्द करै है। मकर जो मकराकृत कुंडल नायक के सो निज पद श्रवण का जो लहर रूप लहर है तापै बिहरत है। प्रेम के हित के वास्ते क्षीर सागर दोनों की मनसा एक भई है अरु श्याम मणि के अङ्ग चन्दन नायक अङ्ग को चन्दन है अभिषेक जो अमृत है सब सखी मिलि ऐसौ बिचारि करै है। समय सार की शोभा सूम के उर में मानौ लग रही है।"

२. वैद्यक शब्द सिंधु' में हेमलता के तीन पर्याय मिलते हैं, (१) सोमलता (२) जीवंती (३) ब्राह्मी।

सोमलता एक प्रकार की बेलि है जो हिमालय पर्वत पर आठ हजार से बारह हजार फुट की ऊँचाई पर मिलती है। चरक में इसके कल्प का प्रयोग वर्णन किया है, जिसका एक बार पान करने से मनुष्य के शरीर का तीन महीने में केवल ढाँचा मात्र रह जाता है। नख तथा दाँत भी गिर जाते हैं, फिर तीन महीने में सब नवीन वस्तु प्राप्त होती हैं, जैसे हेमंत में सब पत्ते झड़ कर वसंत में नव-जीवन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार का कल्प किया हुआ व्यक्ति वायुगामी तथा आठ हजार वर्ष तक जीवित रहता है—आदि। जीवंती भी एक लता है जो सब जगह मिलती है। इन दोनों का रंग स्वर्ण जैसा होता है, परन्तु ब्राह्मी, जो गंगा की खादर में सब जगह मिलती है, हरे रंग की होती है।

३. तरनि-तनया—

हरिवंश पुराण में लिखा है कि कश्यप जी के पुत्र विवस्वान ने त्वष्टा की पुत्री रेणु से, जो पीछे संज्ञा नाम से विख्यात हुई, विवाह किया। इससे श्राद्ध-

देव, यम और यमी की उत्पत्ति हुई। यह यमी नदियों में श्रेष्ठ और लोक को सुख देने वाली यमुना नाम से प्रसिद्ध हुई।

(हरिवंश ६, ६३)

(२८)

राग वैरारी

बसे री[1], नैनन में षट इंद।
नंद-नँदन बृषभानु-नंदनी, सखी सहित सोभित जग बंद॥
द्वादस ही पतंग, ससि सौ बिस, षट फनि, चौबिस[2] चतुरंग छंद।
द्वादस बिंब, सौ बानवै बज्रकन, षट कमलनि मुसक्यात[3] जु मंद॥
द्वादस ही मृनाल, कदली खँभ[4], लखि द्वादस[5] मराल[6] आनंद।
द्वादस ही सायक, द्वादस धनु[7], खग ब्यालीस माधुरी फंद॥
चौबिस चतुष्पदनि सोभा मनु[8], चलत चुवत करभा मकरंद।
पीत[9]-गौर दामिनी बिराजत[10], अनुपम छबि श्री गोकुल चंद॥
साठ जलज अरु द्वादस सरबर, अंग हि अंग सरस रस कंद।
सूर स्याम पर तन मन बारति ललिता[11] देखि भयौ आनंद॥*

शब्दार्थ=इंद = चंद्रमा। पतंग=सूर्य रूपी कर्णफूल। ससि = नख चंद्र। फनि = सर्प सी चोटी। सौ बानवै = एक सौ बानवै। बज्र-कन=हीरा जैसे दाँत। मृनाल = कमल नाल। कदली खंभ = केला के खंभा जैसी जंघा। मराल = हंस जैसी चाल। सायक = बाण, कटाक्ष रूपी बाण। धनु = धनुष, भौंह रूप धनुष। करभा=हाथी का बच्चा। मकरंद = मद।

प्रसंग—ललिता सखी ने यमुना किनारे राधा कृष्ण को एक सखी के साथ देखा। इन तीनों का प्रतिबिंब यमुना में पड़ रहा था। इस प्रकार तीन प्रत्यक्ष और तीन प्रतिबिंब कुल छह बिंबों का रूपकातिशयोक्ति से नख-शिख वर्णन है। सखी का वचन सखी से—

पा०—(१) वें बसेरी हेली (२) चौबिस धातु। (३) मुसक्यात मंद। (४) खंभ द्वादस (५) द्वादस ते। (६) मातुलहि। (७) चाप चपलई। (८) सोभा श्रुति कीनी मानों। (९) नील। (१०) पीत घन राजत। (११) ललिता इति।

* ना. प्र. ६८६--२७८६। वें ३१४--६।

भावार्थ—मेरे नेत्रों में छह मुख चन्द्र बसे हुए हैं। जग-बंदनीय राधा कृष्ण सखी सहित शोभायमान हैं। बारह सूर्य रूपी कर्ण फूल, एक सौ बीस नख चन्द्र, छह सर्पाकार वेणी, चौबीस चार रङ्ग वाली धातु, बारह बिंबाधर, एक सौ बानवै हीरा जैसी दन्त पंक्ति, छह सहास्य मुख कमल, बारह भुज मृणाल, बारह कदली खंभ रूपी जंघाएँ, बारह हंस की सी चाल, बारह कटाक्ष रूपी बाण, बारह धनुष रूपी भौंह. फंद में फसे हुए ब्यालीस पक्षी और चौबीस चौपाये हैं। इनकी शोभा (राधा-कृष्ण और सखी) ऐसी प्रतीत होती थी, मानों मद चूता हुआ हाथी चल रहा हो। पीत और गौर दामनियों के मध्य अत्यंत सुंदर कृष्ण शोभायमान है। साठ कमल और बारह सरोवर हैं और सब अंग अंग सरस रस का कंद है। इनको देख कर ललिता प्रसन्न हुई और वह श्याम पर अपना तन-मन न्योछावर करती है।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

पतंग, ससि, फनि इत्यादि केवल उपमानों का ही वर्णन है।

२. वस्तूत्प्रेक्षा—सिद्धा-रूप—

'मनु चलत चुवत करभा मकरंद'।

इस में उत्प्रेक्षित वस्तु सिद्धि हैं। इसलिए सिद्धास्पद है।

रस—शृंगार रस, आलंबन वर्णन।

टिप्पणी—

१. ब्यलीस खग—खंजन नैन २ कोकिल वाणी १ भ्रमर केश १ कपोत ग्रीवा १ शुक नासिका १, हंस चाल १, कुल मिलाने से ७ हुए। प्रिया, प्रीतम और सखी के तिगुने करने से इक्कीस तथा प्रतिबिंब से दुगने ब्यालीस हुए।

२. चौबीस चतुष्पद—मृग नेत्र २, सिंह कटि १, गंयद गति १, इनके मिलाने से चार हुए, तिगुने बारह, प्रतिबिंब सहित चौबीस हुए।

३- ६० कमल — २ नैन, [illegible] २ कुच [illegible]

(२६)

राग बिलावल

सँग सोभित बृषभाँनु-किसोरी।
साँरग-नैन, बैन बर साँरग, साँरग बदन कहै छबि कोरी॥
साँरग अधर, सुघर कर साँरग, साँरग जति, साँरग मति भोरी।

सारँग दसन, हसन पुनि सारँग, सारँग बसन पीत पर डोरी ॥[1]
सारँग चरन, पीठ पर सारँग, कनक खंभ मनौं अहि लसौ री।
सारँग बरन, दीठ पुनि सारँग, सारँग गति, सारँग कटि थोरी॥
सारँग पुलिन, रजनि रुचि सारँग, सारँग अंग सुभग भुज जोरी।
बिहरति सघन-कुंज सखि निरखति, 'सूर' स्याम-घन, दामिनि गोरी[2] ॥*

शब्दार्थ—सारँग=खंजन, कोयल, चंद्रमा, सरस। सुघर=सुघड़, सुंदर। सारँग=पद्मिनि जाति की नायिका। सारँग=स्त्री, बिजली। बज्र हीरा, जैसे दाँत सारँग=घनश्याम, श्याम रंग की, स्वर्ण, बाण, हाथी, सिंह। सारँग=कमल, सर्प। सारँग=नदी, मधुर, कामदेव, काम।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—श्री कृष्ण के साथ राधा शोभायमान हैं। (वह कैसी है?) उनके खंजन से नेत्र, कोकिल सी सरस वाणी, मुख चंद्रमा जैसा है, तथा उसकी अछूती सुंदरता का कौन वर्णन कर सकता है। उनके अधर और हाथ कमल जैसे हैं तथा वह पद्मिनी जाति की सीधी-सादी नायिका है। उसके हीरा जैसे दाँत तथा वैसा ही विद्युत-हास्य है। श्याम रंग की साड़ी है जो पीत वस्त्र की डोरी से बँधी हुई है। चरण कमल हैं। पीठ पर चोटी ऐसी प्रतीत होती है मानों स्वर्ण के खंभ पर सर्प चढ़ा हुआ हो। वह स्वर्ण के रंग वाली है। कटाक्ष बाण जैसे, गज गामिनी और सिंह सी छोटी कटि वाली है। मधुर रात्रि में यमुना किनारे सुंदर भुजा मिलाये हुए कामातुर घनश्याम कृष्ण और दामिनी रूप राधा सघन कुंज में विहार कर रहे हैं।

अलंकार—

१. यमक—

सारंग शब्द की अनेक आवृति अनेक अर्थों में होने से।

२. रूपक—

सारंग नैन, बैन सारंग, सारंग बदन, सारंग अधर में आरोप्य और आरोप्यमान होने से।

३. वस्तूत्प्रेक्षा—उक्तास्पद।

पीठ०······लसौ री। यहाँ पीठ पर चोटी की उत्प्रेक्षा कनंक खंभ पर चढ़ते हुये सर्प से की है, दोनों ही वस्तु उक्त हैं।

*ना. प्र. ६६०--२७६९। वें. ३१५--१। नव. ४६३--४१०। दि. १५६--६३७। कां. ३३०--१ ४४८। बाल. ३३--२३।

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार।

टिप्पणी—

१. महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुंतल में 'कोरी छवि' का वर्णन इस प्रकार किया है—

अनाविद्धं रत्नं किसलयमलूनं कररुहै
रनाघ्रातं पुष्पं नव मधुरनास्वादितरसं।
अखण्डं पुण्यानां फलमिवचतद्रूपमनथं,
न जाने भोक्तारं किमह समुपस्थाष्यति विधिः॥

२ ना. प्र. वाली प्रति में 'सारँग दसन' से लगाकर 'कटि थोरी' तक तीनों पंक्तियों को एक पंक्ति बनाकर इस प्रकार दी है।

सारँग-बरन पीठ पर सरँग, सारँग-गति सारँग कटि थोरी॥

बालकिशन ने इस पद का पाठ इस भाँति दिया है।

राग कान्हरौ

सँग सोभित वृषभान किसोरी।
सारंग नैन भृकुटि पुनि सारंग बदन पीत पट सारँग डोरी॥ १ ॥
सारंग अधर मनों कर सारँग सारँग गति सारँग कटि थोरी।
सारँग बरन पीठ पर बैनी कनक खंभ अहि मनों चढयौरी॥ २ ॥
सारँग सो सारँग मिलि मानों यह सोभा बरनत कवि कोरी।
बिहरति सघन कुंज निरखति सखि, सूर स्याम घन दामिनि जोरी॥३॥

(३०)

राग बिहागरौ

देखे[1], सात कमल इक ठौर।
तिनकौं अति आदर दैबे कौं, धाइ मिले द्वै और॥
मिलत मिले फिर चलत न बिछुरत, अवलोकत यह चाल।
न्यारे भए बिराजत हैं सब, अपने सहज सनाल॥
हरि तिनि[2] स्याम निसा, निसि नायक, प्रघट होत हँसि बोले।
चिबुक उठाय कह्यौ अब देखौ, अजहूँ रहति अबोले[3]॥

पा०—(१) वें. देखो, (२) तम, (३) अनबोले।

इतने जतन किए नँद-नंदन, तब वौ निठुर मनाई।
भरिकैं अंक सूर के स्वामी, परयँक-परि गहि ल्याई[1] ॥*

शब्दार्थ—सात कमल = दो चरण कमल, दो कर कमल, दो कुच कमल और एक मुख कमल। सनाल = मृणाल। निसि-नायक = चंद्रमा।

प्रसंग—मान मोचन के हेतु नायक का वचन नायिका से।

भावार्थ—सात कमल एक ही स्थान पर दिखाई दिये। उनको देखकर, उनका सत्कार करने के लिए दो कमल आगे आये, अर्थात् नायिका को देख कर नायक ने आलिंगन के लिये अपने हाथ बढ़ा दिये। यह एक चाल दिखाई पड़ती है कि मिलने को वे मिल जाते हैं, किंतु फिर बिछुड़ना नहीं चाहते, अर्थात् आलिंगन बद्ध होकर फिर छोड़ना नहीं चाहते। (परंतु) इस समय वे सब (कमल) अपने-अपने मृणाल पर स्थित हैं, अर्थात् तुम्हारे मान के कारण उनका संयोग नहीं है। (यह सब कहने पर भी नायिका का मान मोचन नहीं हुआ) तब श्याम ने अँधेरी रात में चंद्रोदय देख नायिका का चिबुक उठा कर कहा कि 'देखो! निशा-नायक उदय हो गया है। तुम अब भी मौन हो (नायक के कहने का तात्पर्य यह है निशा रूपी नारी ने, जो अब तक मान के कारण श्याम हो रही थी, अपने नायक को अंक से लगा लिया है, किंतु तुम इतनी निष्ठुर हो कि चंद्रोदय होने पर भी तुम नहीं बोल रही हो)। इस प्रकार इतने यत्न करने पर उस निष्ठुर (नायिका) को कृष्ण ने मना लिया और गोदी में भर पर्यंक पर ले आये।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

देखो०...ठौर।
तिनकौं०...और।

इसमें सात कमल और दो कमल केवल उपमान रूप में ही वर्णित हैं।

२. तुल्योगिता प्रथम—

इसमें कमल अवर्ण्य कितनी ही क्रियाओं का कर्ता है इस लिए तुल्ययोगिता प्रथम हुई।

---

* ना. प्र. (१) १०७४--२०७६। वें ३७०--६।

(१) ना. प्र. ह्यां आई।

३. विभावना प्रथम—

हरि०……अबोले ।

इसमें चंद्रोदय रूपी कारण के होते हुए भी बोलना रूपी कार्य नहीं हुआ। इस लिए विभावना प्रथम हुई है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती का मान मोचन।

टिप्पणी—

पर्यंक—'अमरकोश' में पर्यंक के चार नाम गिनाये गए हैं—मंच, पर्यंक, पल्यंग और खट्वा। महाराज भोज ने अपने 'युक्ति कल्पतरु' के आसन युक्ति प्रकरण में इसे खट्विका या खट्वा (खटिया या खाट) नाम से उल्लेख करते हुए इसकी परिभाषा में लिखा है कि जो काठ के आठ खंडों से निर्माण की जाय उसे खट्वा कहते हैं। इसके दो सिरा, दो पाटी तथा चार पाये होते हैं। 'बृहत-संहिता' में लिखा है कि चंदन, दारु हल्दी, देवदारु, शाल, सिरीष और शीशम की लकड़ी इसके लिये उत्तम होती है। विविध वृक्षों के सहयोग से बनी हुई खट्वा के शुभाशुभ लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि शिंशिपा, देवदारु और असन किसी अन्य वृक्ष से संयुक्त होकर शुभ फल नहीं देते, पर सिरीष, शाल, दारु, हल्दी और कदम्ब आपस में मिलकर या पृथक्-पृथक् शुभ फल देते हैं। आम की लकड़ी की खटिया बनाने का बड़ा निषेध है। लंबाई-चौड़ाई के अनुसार भी इसके जय, सर्व-मंगला, श्रीमान, चित्रकांत आदि आठ भेद माने गये हैं, जिसमें १०० अंगुल लंबा 'जय' नामक पलंग राजा का होता है।

सोमदेव कृत 'मानसोल्लास' में कला की दृष्टि से पलंग के आठ भेद माने गये हैं। जब उस पर केवल बैठने की जगह होती है तब उसे 'सिंहासन' अर्थ में लेते हैं। सोने योग्य बड़ा होने पर 'शय्या' कोटि में आता है। जिसके सब अंग हाथी-दाँत के बने हों उसे 'दंताघ्रि', तांबे के पाये वाला सुदृढ़ मंच 'लौह चरण', सुवर्ण से बना हुआ विविध कारीगरी से युक्त मंच 'अष्टापद' कहलाता है। यंत्र विशेष से युक्त नलिकाओं से निर्मित, विभिन्न सुंदर नाद करने वाला मंच 'रवद' कहलाता है। यह कामुक पुरुषों की काम क्रीड़ा में विशेष आनंदप्रद होता है। बैठते ही ऊपर नीचे (यंत्र विशेष की सहायता से) जाने लगे ऐसा दृढ़ पाये वाला तथा सुंदर मंच 'चपल' कहलाता है। बेंत की बाहिरी छाल से बुना हुआ कुटिल पाये वाला 'वेत्र मंच' होता है। विभिन्न रंगों की सूती पट्टियों

(निवार) से अच्छी तरह बुना हुआ मंच 'पट्टिका' नाम से प्रसिद्ध है। चंदन की लकड़ी से बना हुआ, स्थान-स्थान पर सोने से मढ़ा हुआ, दिव्य रत्नों से जटित मत्त गजराज-सा शोभित, स्वर्ण-शृंखला में लटकाया हुआ कोमल कुसुम केशरमयी शय्या से युक्त शुभदायक 'दोला-मंच' कहलाता है। यह एक प्रकार का भूला है।

(किताबी कीड़ा)

(३१)

राग बिलावल

देखौ, सोभा-सिंधु समात।
स्यामा-स्याम सकल निसि रस-बस, जागे होत प्रभात।
लै पाहन-सुत कर-सनमुख दै, निरख-निरख मुसकात।
अचरज सुभग बेद-जल-जातक, कनक-नील-मनि गात॥
उदित जराउ[1] पंच तिय[2] रवि-ससि, किरन तहाँ सु दुरात।
चंचल खग बसु, अष्ट कंज-दल, सोभा बरनि न जात॥
चार कीर पर पारस बिद्रुम, आनि अली-गन खात।
सुख की रासि जुगल मुख-ऊपर, सूरदास बलि जात॥*

शब्दार्थ—समात=समाया हुआ, विलीन हुआ। पाहन-सुत=दर्पण। **अचरज**-आश्चर्यजनक। **सुभग**-सुंदर। **बेद**=चार। **जल-जातक**=कमल। **खग**= खंजन। **बसु**=आठ। **पारस**=पास। **बिद्रुम** = मूँगा।

प्रसंग—प्रातःकाल सुरति के पश्चात् प्रिया-प्रीतम एक दूसरे के हाथ में दर्पण देकर सुरति चिन्हों को दिखा-दिखा कर हँस रहे हैं। इसी शोभा का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से करती है।

भावार्थ—हे सखी! शोभा का समुद्र (प्रिया-प्रीतम में) विलीन होता हुआ देखो, अर्थात् प्रिया-प्रीतम इतने सुंदर दीख रहे हैं कि उसका वार-पार नहीं है। श्री राधा-कृष्ण रात्रि की केलि के पश्चात् प्रातःकाल सो कर उठे हैं। वे दर्पण हाथ में लेकर और (सुरति चिन्हों को) दिखा-दिखा कर मंद-मंद हँस रहे हैं

पा०—(१) वें. जराउ हार (२) पंचति यौं।
* ना. प्र. १०७६-३०८३। वें. ३७१-१७।

(मुख से कुछ नहीं कहते, परंतु वह कहते हैं कि अपनी सूरत तो देखो कैसी बनी हुई है)। (इसी 'निरख-निरख मुसकात का वर्णन' कि वह क्यों हंस रहे थे, सखी करती है)। चंचल स्वर्ण वर्ण (राधा) का तथा नील मणि (कृष्ण) की देह पर चार सुंदर आश्चर्यजनक (मुख) कमल शोभा दे रहे हैं (दो प्रतिबिंब और दो प्रकट)। (आश्चर्यजनक इस लिये कहा कि उसमें कुछ और भी चिन्ह थे)। उस पर पान की पीक का जड़ाव था (लगी हुई थी), जिसको देखकर ऊगते हुये चंद्र और सूर्य की किरणें छिप जाती हैं। आठ खंजन सदृश चंचल नैन, आठ कमल-पंखुड़ी जैसी दिखाई देती थी, जिनकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। (प्रिया-प्रीतम के चंचल नैन में इस समय कमल-पंखड़ियों-सदृश लाल डोरे पड़े हुए थे, क्योंकि केलि के कारण रात्रि को पूरी नींद नहीं ले पाये थे)। चार नासिका रूपी शुकों के समीप (अधर रूपी) विद्रुमों को भौंरा आ-आकर खा रहे हैं (आश्चर्य यही है कि पास बैठे हुए तोते नहीं खा रहे और भौंरा आ-आकर खा रहे हैं), अर्थात् अधरों पर नेत्र-चुंबन की कालिमा लगी हुई है। इस प्रकार सुख की राशि युगल मुख पर हम (या सूरदास) बलिहारी हैं।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

जल जातक, खग, कंज दल, कीर, विद्रुम में केवल उपमानों का ही वर्णन है।

२. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा—

'कनक-नील-मनि गात'। इसमें कनक और नील मनि उपमान तथा गात उपमेय का तो वर्णन है, किंतु वाचक और साधारण धर्म का लोप है।

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार।

'रत्नाकर' ने इस मुख के रूप का सुंरतांत वर्णन 'खण्डिता' नायिका-द्वारा कराया है।

उठि आए कहाँ तैं कहौ तौ सही, रही नैनन नींद चलाचल है।
'रतनाकर' त्यौं बिथुरी अलकैं, सु कपोलन पीक झलाझल है॥
अधरान पै अंजन रेख लसै, लखि प्रानन होत चलाचल है।
उन हाय बिसासनी कीनी दगा, धरि कंद में भेज्यौ हलाहल है॥

(३२)

राग रामकली

देखि सखि, पाँच कमल, द्वै संभु ।
एक कमल ब्रज[1] ऊपर[2] राजत, निरखति नैन अचंभु ॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हैं कमल सुकोमल अंग ।
जुगल कमल सुत-कमल बिचारत, प्रीत न कबहूँ भंग ॥
षट जु कमल मुख सनमुख चितवत, बहु बिधि रंग तरंग ।
तिनि मैं तीन सोमबंसी-बस, तीन सु कस्यप-अंग ॥
जेइ कमल सनकादिक दुरलभ, जिनहीं निकसी गंग ।
तेइ कमल सूर नित[3] चितवत, निपट[4] निरंतर संग ॥*

शब्दार्थ—पाँच कमल = एक मुख कमल, दो नेत्र कमल, एक हृदय कमल और एक नाभि कमल । द्वै संभु = दो कुच रूपी शिव । ब्रज = ब्रजराज श्री कृष्ण । कमल = कर कमल । सुत-कमल = ब्रह्मा । सोमबंसी = चंद्रवंशी । कस्यप = कछुआ । कमल = चरण कमल ।

प्रसंग—भगवान श्री कृष्ण राधा के वक्ष-स्थल पर अपना मुखारबिंद रखे हुए हैं । इसी को देख कर एक सखी दूसरी सखी से कहती है ।

भावार्थ—हे सखी ! पाँच कमल और दो कुच-शंभु पास-पास दिखाई पड़ रहे हैं । राधा का मुख कमल कृष्ण के ऊपर है, जिसको देखकर आश्चर्य होता है । कमल सदृश मुख वाली प्रिया, प्रीतम का हाथ पकड़े हुए है और उनकी देह कमल के समान कोमल है । ब्रह्माजी इन युगल किशोर रूपी युगल कमल को देख कर यह विचार करते हैं कि इनका प्रेम कभी खंडित न हो, अर्थात् सदा ऐसा ही बना रहे । छह कमल (एक मुख कमल, दो नेत्र कमल प्रीतम के तथा इतने ही प्रिया जी के) अनेक भावों से एक दूसरे की ओर देख रहे हैं । इसमें से तीन प्रिया जी के चंद्रवंशी श्री कृष्ण के आधीन हैं और प्रीतम के तीन कच्छप के समान हैं, अर्थात् प्रिया जी के मुख और नेत्र तो श्री कृष्ण पर लगे हुए हैं, किंतु श्री कृष्ण कभी मुख उठा कर प्रिया जी को देख लेते हैं और

पा०—(१) नव. बज्र । (२) नव. उर । (३) ना. प्र. तित । (४) सर. नीठ ।

* ना. प्र. १०७७-३०८४ । वें. ३७१-१८ । नव. २०३-३३४, ५५८-१७० । रा. क. द्वि. भा. ५२६-१२ । दि. १७०-८०३ । सर. १३७-५७ । पो. ३१५-१०१६ । का. ३८७-१७२ ।

कभी उनके वक्ष-स्थल पर रख देते हैं। जो चरणारविंद सनकादिक ऋषियों को दुर्लभ हैं और जिनसे गंगाजी निकली हैं, उन्हीं चरण-कमलों का सूरदास नित्य दर्शन करते हैं और उन्हीं के संग लगे रहते हैं।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति

(अ) पाँच कमल द्वै संभु।
(क) एक कमल प्यारी कर लीन्हैं।
(च) जुगल कमल।
(ट) षट जु कमल।

इनमें सब कमल उपमान रूप से ही वर्णित हैं, उपमेय, वाचक और साधारण धर्म नहीं हैं। इसलिये रूपकातिशयोक्ति है।

२. पूर्णोपमा

कमल सु कोमल अंग। इसमें कमल उपमान, अंग उपमेय, सु वाचक और कोमल साधारण धर्म है।

रस—शृंगार रस, संभोग शृंगार।

(३३)

राग नट

देखि[1] सखि, चारि चंद्र इक जोर।
निरखति बैठि नितंबिनि पिय सँग[2], सार[3]-सुता की ओर॥
द्वै ससि स्याम नवल घन सुंदर[4] द्वै बिधि[5] की छबि[6] गोर।
तिनके मध्य[7] चार सुक राजत[8], द्वै फल आठ चकोर॥
ससि-ससि संग प्रबाल, कुंद-कलि[9], उरझि रह्यौ मन मोर।
सूरदास प्रभु अति रति-नागर[10], बलि-बलि जुगल किसोर॥*

पा०—(१) बाल. निरखि। (२) बाल. बैठे पिया तिया मिलि दोऊ। (३) वें. सूर। (४) बाल. द्वै विधु नील स्याम घन जैसें। (५) बाल. विधु। (६) गति। (७) बाल. मुखहि। (८) सोभित। (९) बाल. अलि। (१०) बाल. उभै रूप निधि।

* ना. प्र. १०७७–३०८५। वें. ३७१–१६। नव. १४८–२७, २०४–३६६, ५३८–७१। नि. ६६–८। रा. क. द्वि. भा. १७७–२७। दि. १७०–८०४। म. २३६-२। सर. १०४-११। पो. ३१४-१००६। बाल. १८-११।

शब्दार्थ—**नितंबिन** = नितंब वाली राधा। **सार-सुता** = यमुना। **ससि** = चंद्रमा, मुख-चंद्र। **बिधि** = ब्रह्मा। **की** = किये, बनाये। **फल** = बिंबाफल, अधर। **चकोर** = नेत्र चकोर। **प्रबाल** = मूँगा, मसूड़े। **कुंद-कलि** = कुंद-कली जैसे दाँत।

प्रसंग—प्रिया-प्रीतम यमुना किनारे बैठे यमुना जी की ओर देखकर हैं। इस प्रकार उनका प्रतिबिंब जल में पड़ रहा है (इससे उपमान दुगने वर्णन किये हैं)। इसे देख कर एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! देखो, चार चंद्रमा एक ही स्थान पर इकट्ठे हैं। इसमें ब्रह्मा ने दो चंद्रमा श्याम वर्ण और दो गौर वर्ण के बनाए हैं (प्रीतम का श्याम मुख-चंद्र और प्रिया जी का गौर है)। उनके मध्य चार नासिका रूपी शुक हैं, दो बिंबाधर हैं, आठ नेत्र रूपी चकोर हैं। प्रत्येक चंद्रमा में प्रवाल जैसे मसूड़ों के साथ कुंदकली जैसे दाँत हैं, जिसमें मेरा मन फँस गया है। ऐसे रति-नागर युगल किशोर पर सूरदास बलिहारी जाते हैं।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

इस पद में सुक, फल, चकोर, प्रबाल, कुंद-कली, ससि आदि केवल उपमान ही आये हैं। उपमेय, वाचक और साधारण धर्म नहीं।

२ व्यतिरेक—

द्वै ससि स्याम। इसमें मुख चंद्र अवश्य है, परंतु श्याम है यही उनकी विशेषता है। इस लिए व्यतिरेक अलंकार हुआ।

लक्षण—

व्यतिरेक वर्न अवर्न में, कोऊ बात बिसेष।
मुख है अम्बुज सो सही, मीठी बात बिसेष॥

(काव्य-प्रभाकर)

रस—श्रृंगार रस, संभोग श्रृंगार।

(३४)

राग नट

देखि री[1], प्रघट द्वादस मीन।
पट इंदु, द्वादस तरनि सोभित, बिमल उड़गन तीन॥

पा०—(१) वाल. देखियत।

षट अष्ट अंबुज, कीर षट, मुख कोकिला सुर एक।
दस दोइ बिद्रुम, दामिनी षट, तीन ब्याल बिसेष॥
षट त्रिबलि, श्रीफल षट[1], बिराजत परसपर बर नारि।
ब्रज कुँवरि, गिरधर कुँवर पर, सूर जन बलिहारि॥*

शब्दार्थ—मीन = मछली, मछली जैसे नेत्र। इंदु=चंद्रमा, मुख-चंद्र। तरनि=सूर्य, कर्णफूल। उड़गन=तारे, बैंदी। षट अष्ट=अड़तालीस। अंबुज= कमल। कीर शुक। श्रीफल=उरोज।

प्रसंग—राधा-कृष्ण यमुना किनारे बैठे हुए दर्पण देख रहे हैं। इस प्रकार उनका एक बिंब दर्पण में और एक प्रतिबिंब यमुनाजी में पड़ रहा है। इस प्रकार कवि-द्वारा प्रयुक्त उपमान तिगुने होकर आये हैं। सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! बारह नेत्ररूपी मछली देखो। छह मुख चंद्र, बारह सूर्य जैसे कर्णफूल और तीन बैंदी (प्रियाजी की) रूप तारे हैं। अड़तालीस कमल (१ मुख, २ नेत्र, १ हृदय, २ हाथ, २ चरन यह आठ हुए, प्रिया-प्रीतम के सोलह और बिंब-प्रतिबिंब से अड़तालीस हुए), छह नासिका रूपी तोता और वाणी रूपी कोकिला का एक स्वर है। बारह अधर रूप प्रवाल, छह दंत-पंक्ति की विद्युत रूप चमक, तीन वेणी रूप व्याली (केवल प्रियाजी के), छह त्रिबली और (प्रियाजी के) छह उरोज रूपी श्रीफल हैं। इस प्रकार राधा-कृष्ण पर सूरदास बलिहारी हैं।

रूपकातिशयोक्ति—
मीन, इंदु, तरनि आदि में केवल उपमान ही उपमान हैं।
रस—शृंगार रस—आलंबन वर्णन।

(३५)

राग देव गंधार

देखि सखि, तीस भानु इक ठौर।
ता ऊपर चालीस बिराजत, रुचि न रही कछु और॥

पा०—(१) वें. त्रिवलि षट श्री फल बिराजत।

* ना. प्र. (१) १०७७–३०८६। वें. ३७१–२०। नव. २०४–३३७, ५५८–७२। रा. क. द्वि. भा. ५२६–१४। दि. १७०-८०५। सर. १०५-१२। पो. ३१६-१०२४। कां. ३८७-१०२६। बाल. ४६-३४।

धर तैं गगन, गगन तैं धरती, ता बिच कियौ[1] बिस्तार ।
गुन-निरगुन सागर की सोभा, बिन रवि भौ[2] भिनुसार ॥
कोटनि[3]-कोट तरंगनि[4] उपजति, जोग जुगति चित लाउ[5] ।
सूरदास प्रभु अकथ कथा कौ, पंडित भेद बताउ[6] ॥*

शब्दार्थ—तीस भानु=(प्रियाजी के २ हंस चाल, १० नूपुर हंस, १ हाथ की आरसी हंस (सूर्य), २ कर्णफूल भानु, १ सीस फूल भानु तथा प्रीतम के २ हंस चाल के, १० नूपुर, २ कुंडल । हंस=सूर्य, भानु । चालीस=मन ।

प्रसंग—प्रिया-प्रीतम का नख-शिख वर्णन । सखी के वचन सखी से ।

भावार्थ—हे सखी ! तू तीस भानु एक साथ देख । उन पर मेरा मन बैठ गया है, अर्थात् मैं मुग्ध हो गई हूँ । मेरी अब कुछ भी इच्छा नहीं रही । इन सूर्यों का विस्तार पृथ्वी से आकाश तक (श्री कृष्ण का नख-शिख चरणों से शिखतक किया जाता है) और आकाश से पृथ्वी तक है। (प्रियाजी का नख-शिख, शिख से चरणों तक किया जाता है) इस सागर की शोभा गुणात्मक और निर्गुणात्मक है, अर्थात् जहाँ वे ब्रह्म और माया से अथवा पुरुष और प्रकृति रूप से निर्गुण हैं, वहाँ अवतार लेकर भक्तों के लिए सगुण लीला भी करते हैं । बिना सूर्य के ही प्रकाश हो रहा है । (प्रकाश प्रिया-प्रीतम के तेजस का है, अथवा समस्त विश्व में उन्हीं की ज्योति प्रकाशित हो रही है) इस सागर में करोड़ों लहरें उठ रही हैं, अर्थात् उनके हृदय में असंख्य उमंगें, उठ रही हैं अथवा इस संसार की स्थिति त्रिगुणात्मक माया और ब्रह्म के समन्वय से है, जिसमें करोड़ों भावनाएँ सागर की भाँति उत्पन्न होती और नाश हो जाती हैं । इसको आप योग की शैली से विचार करो, अर्थात् पूर्ण ध्यानावस्था में स्थित होने से ही इसका पता चल सकता है, सूरदासजी कहते हैं कि यह अकथ कथा है, सोई हे पंडितजनों ! तुम इसका भेद बताओ ।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

भानु, धर, गगन इत्यादि उपमान रूप में ही वर्णित हैं ।

पा०—(१) बाल. है, (२) भयौ, (३) कोट, (४) तरंगे, (५) भायो, (६) बतायो ।

* ना. प्र. १०७८- ००८ । बाल. ४ -२६ ।

२. प्रहेलिका—

कवि ने इस नख-शिख के पद को प्रहेलिका रूप देकर पंडितों से अर्थ पूछा है।

३. विभावना प्रथम—

'बिनु रवि भौ भिनुसार'। इसमें बिना कारण के ही कार्य होरहा है। इसलिए विभावना प्रथम हुई।

रस—शृंगार रस, नख-शिख वर्णन।

टिप्पणी—१. बालकिशन ने इस पद का अर्थ इस प्रकार दिया है—
रात्रि के समय श्री यमुना जी के तीर श्री ठाकुर जी त्रिभंगी स्वरूप सों श्री स्वामिनी जी सहित ठाढ़े हैं। त्रिभंगी स्वरूप के एक ही चरन के नष-रवि ५ दूसरी ठौर के नष-रवि दस मिलके १५ सूर्य भये। श्री यमुनाजी में प्रतिबिंब परत हैं। तहां के हु पंद्रह सूर्य मिलि के तीस भानु भये सो नीचे देषि परत हैं। ताके ऊपर श्री हस्त के दोऊ ठौर के नष रवि २० प्रतिबिंब के नष रवि बीस मिले चालीस भये बिराजत शोभा कों करत हैं। इन की किरन धरा तें गगन लों विस्तार ह्वै रही हैं। ऐसो तेज रूपी गुन जामें है तथापि अलौकिक नष रवि के किरण हैं तातें निर्गुण हैं। सो फैल रही है शोभाओं में सागर मर्यादा छोड़ उमड़ के फैल परें ता भाँति किरन व्याप्त होय रही हैं और रात्रि को समय है सो रवि के उदय बिना भोर सो प्रकाश भयौ है। कोटि-कोटि किरननि की तरंगे उपजत हैं ताही तें सागर की समानता दिये हैं सो इनकी शोभा चित्त को लावनो जैसे जोगी की जुक्त सों ध्यान धारना करनो। अकथ कथा सो सूर्य के समूह को वर्नन रात्रि के समय असंभव है। सो पंडित जो हैं ऊपर लिष्यौ ता भाँति अर्थ करके भेद बतायो॥

(३६)

राग रामकली

सुता-दधि, पति सौं क्रोध भरी।
अंबर लेत भई खिज बालहिं सारँग-संग लरी॥
तब श्रीपति अति बुद्धि बिचारी, मनि लै हाथ धरी।
वै अति चतुर नागरी नागरि, लै मुख माँझ करी॥

चापत चरन सेस चलि आयौ, उदयाचलहिं डरी।
सूरदास स्वामी लीला डरि, अकंम लगि उबरी॥

शब्दार्थ—सुता-उदधि समुद्र-पुत्री, लक्ष्मी, राधा। अंबर=वस्त्र। खिज= झुँझलाहट। सारँग दीपक। चाँपत=दबाते ही। उबरी=छुटकारा पाया।

प्रसंग—प्रिया-प्रीतम-केलि वर्णन। सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—राधा श्री कृष्ण को (केलि के लिए) वस्त्र हरण करते हुये देख झुँझला उठी। (क्योंकि उस समय दीपक का प्रकाश था) और वह दीपक से भिड़ गई (अर्थात् उसने दीपक बुझा दिया)। तब श्री कृष्ण ने युक्ति सोच कर मणि हाथ पर रख ली (जिससे फिर प्रकाश हो गया), परंतु वह नागरी नायिका भी अत्यंत चतुर थी उसने मणि को मुख में रख लिया (जिससे फिर अंधकार हो गया), परंतु कृष्ण भी कम चतुर नहीं थे (उन्होंने पृथ्वी को पैर से दबा दिया)। पृथ्वी को चरण से दबाते ही शेष (मणि-सहित) प्रकट हो गये। इस प्रकार शेष के प्रागट्य तथा स्वामी की लीला से भयभीत होकर उसने उनके हृदय से लग कर छुटकारा पाया।

अलंकार—

१ सम—

वै०·······नागरि। दोनों ही चतुर हैं इस लिए 'सम' हुआ।

२. परिकरांकुर—

नागरी नागरि—यहाँ नागरी और नागरि दोनों ही विशेष्य साभिप्राय हैं इस लिए परिकरांकुर है।

३. असंगति—

अंबर०······लरी। यहाँ अंबर तो नायक ने हरण किया, किंतु लड़ना दीपक से हुआ।

रस—शृंगार रस, नायिका मध्या।

लक्षण—

लज्जा मदन समान उती कुल कानि जानिये।

(कवि-रत्न 'नवनीत')

---

* ना. प्र. ११२४–३२४१। वें. ३१८-७५। नव. ५७८-११३। दि. १७२-८३७। का. ३६६-१७५६। बाल. २४-१८।

टिप्पणी—

१ सुता०·········लरी ।

१. अकबर के दरबारी कवि (संभवतः बीरबल 'ब्रह्म') ने भी इसी भाव को अपने एक सवैया में व्यक्त किया है—

नई नवला रस भेद न जानत, सेज गई जिय माँहि डरी।
रस बात कही जब चौंक चली तब धाय कैं कंत नैं बाँह धरी।
उन दोउन की झकझोरन मैं कटि नाभि तैं अंबर टूट परी।
कर कामिनि दीपक झाँपि लियौ, इहि कारन सुंदरि हाथ जरी।

२. बालकिसन का पाठ इस भाँति है—

राग बिहागरा।

हरि सौं दधि-सुत क्रोध भरी।
अंबर लेत फुरी बृजबाला सारँग सों जु लरी ॥१॥
तब जादोपति जतनन करि के ले मनि हाथ फरी।
तातें अधिक सयानी नागरि देषत ही निगरी ॥२॥
जानि हेत प्रिय चाँपि चरन महि उदया त्रास डरी।
चारि चहूँ दिसि सूर प्रभू सौं कंठ लागि उबरी ॥३॥

(३७)

राग रामकली

सकुचि तन उदधि-सुता मुसकानी।
रवि-सारथी-सहोदर ता पति अंबर लेत लजानी ॥
सारँग-पानि मूँदि मृगनैनी, मनि मुख माँझ समानी।
चरन चाप महि प्रघट करी पिय, सेस सीस सहदानी ॥
सूरदास तब कहा करै अबला, जब हरि यह मति ठानी।
भुज अकंम भरि, चाप कठिन कुच[1], स्याम कंठ लपटानी[2] ॥*

पा०—(१) ना. प्र. डरि। (२) बाल. कंचुकि कसत उघारि कठिन कुच कृष्ण कंठ लपटानी।

* ना. प्र. ११२५–३२४२। वें. ३८८–७६। नव. ५७८–११४। दि. १७२–८३८। मथु. २३६–१। कां. वं. ५८–३, १०३–४। पो. ३१३–१००४। कां. ४००–१७६०। बाल. २६–१६।

शब्दार्थ—रवि-सारथी-सहोदर = रवि का सारथी अरुण, उसका सहोदर गरुड़, उसका पति विष्णु, श्री कृष्ण। **पानि** = हाथ। **सहदानी** = चिन्ह। **सेस··· सहदानी** = मणि सहित शेष।

प्रसंग—प्रिया-प्रीतम केलि वर्णन। सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—श्री राधा संकोच से मुसकराने लगी और जब कृष्ण को (रति के लिए) वस्त्र हरण करते देखा तो लज्जित हो मृगनैनी राधा ने अपने हाथ से दीपक बुझा दिया। (और नायक के मणि हाथ में लेने पर) मणि को मुख में रख लिया। तब प्रीतम ने पृथ्वी को दबा कर मणि सहित शेष नाग को प्रकट किया। जब श्री कृष्ण ने यह विचार लिया (कि प्रकाश अवश्य रहेगा) तब अबला क्या करे? (यहाँ अबला विशेषण से अभिप्राय यह है कि बल-रहित नारि इस प्रकार शक्तिशाली का सामना किस प्रकार कर सकती है)। तब नायक को अपने अंक में भर कर और उसे कठोर कुचों से दाब, उसके गले से लिपट गई।

१. कारक दीपक—

(अ) सकुचि०······मुसकानी।

(क) भुज०······लपटानी।

इसके (अ) में सकुचि, मुसकानी, लजानी क्रियाओं का भाव तथा (क) में 'अकंम भरि', चाप और लपटानी क्रियाओं का भाव क्रम से एक ही नायिका में है। इस लिये कारक दीपक हुआ।

लक्षण—

कारक दीपक एक में क्रम ते भाव अनेक।

२—परिकर—

यहाँ 'अबला' उदधि-सुता का साभिप्राय विशेषण है। इस लिये परिकर अलंकार हुआ।

रस—श्रृंगार रस, नायिका मध्या।

टिप्पणी—

"रवि-सारथी-सहोदर ता पति" –

देव-युग में प्रजापति ने अपनी विनता और कद्रू नामकी दोनों पुत्रियाँ कश्यप जी को ब्याह दी। एक समय कश्यप जी ने प्रसन्न होकर दोनों से वर माँगने को कहा। कद्रू ने अपने समान बलशाली सहस्त्र सर्प पुत्र तथा विनता ने कद्रू

के पुत्रों से अधिक बलशाली दो पुत्र माँगे। कद्रू ने सहस्र तथा विनता ने दो अंडे दिये। कद्रू के सहस्र अंडों से हजार सर्प निकले। किंतु विनता के अंडों से कोई पुत्र न निकला। पुत्र-मुख देखने की इच्छा से विनता ने असमय ही अंडा फोड़ डाला। उसमें से एक अर्ध शरीर निकला। उसने माता को शाप दिया कि तुझे असमय ही अंडा फोड़ने के कारण पाँच सौ वर्ष तक अपनी सौत की दासी बन कर रहना पड़ेगा। यदि वह दूसरे अंडे को नहीं फोड़ेगी तो वही उससे मुक्ति दिलावेगा। यह कह कर वह आकाश मार्ग को उड़ गया और अरुण नाम से सूर्य का सारथी हुआ। कालांतर में दूसरे अंडे से गरुड़ की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार गरुड़ और अरुण सहोदर हुए।

(महाभारत, आदि पर्व, १६ अध्याय)

गरुड़ ने सर्पों से माता की मुक्ति का उपाय पूछा। उन्होंने अमृत मांगा। गरुड़ स्वर्ग में जाकर, देवताओं से युद्ध कर, अमृत ले आए। मार्ग में विष्णु ने उनसे प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। गरुड़ ने बिना अमृत-पान अमृत्व तथा विष्णु-ध्वजा में स्थान माँगा। बदले में भगवान ने उसे अपना वाहन बना लिया।

(महाभारत, आदि पर्व, ३३ अध्याय)

(३८)

राग कान्हरौ

बिधु-बदनी अरु कमल निहारे।
सुमना-सुत लै कमलन सज्जित, धनिपति-धाम कौ नाम सँवारै॥
तरनि-तात-बनिता-सुत ता छबि, कमलनि रचि-रचि ग्रंथित[1] त्यारै[2]।
कमल कमल पर रेख बनावति, सारँग-रिपु पाहन गति ढारै॥
उर हाराबलि मेलति कमलनि, मनहुँ इंदु पारस ढिंग पारै।
सूर स्याम के नामहिं जीतन, कमला-पति के[3] पदहिं बिचारै॥*

शब्दार्थ—सुमना-सुत=सुमना चमेली, उसका पुत्र तेल, चमेली का तेल। धनिपति॰ नाम=धनपति कुवेर, उसका धाम अलका से हुआ अलक। तरनि॰....सुत=तरनि-सूर्य, उसका तात कश्यप, उसकी स्त्री कद्रू, उसके पुत्र सर्प जैसे

पा०—(१) सर. ग्रंथि (२) सम्हारै। (३) ना, प्र. कैं।

* ना. प्र. ११४६–३३२५। सर. १०६–१३। वें. ३६७–५७।

केश। कमलनि=कर-कमल। कमल=नेत्र-कमल। सारँग–रिपु=वस्त्र। पारस=चंद्रमा के चारो ओर का प्रकाश मय घेरा जो प्रायः बरसात बीतने पर दिखाई देता है।

प्रसंग—नायिका को शृंगार करते हुए देख कर सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—वह चंद्र-मुखी है और कमल को देख रही है, अर्थात् वह नायक की ओर देख कर शृंगार कर रही हैं, अथवा सखी के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चंद्रमा को देख कर कमल संकुचित हो जाता है, उसी प्रकार नायिका को देख कर नायक भी संकुचित हो जायगा। वह चमेली का तेल हाथों में लगा कर अलकों को सम्हार रही है। फिर सर्प जैसे केशों को गूंथ कर वेणी बनाती है। हाथ रूपी कमल से नेत्र रूपी कमल में काजल लगाती है और फिर मणि लगे हुये वस्त्र पहिनती है। हाथों से हृदय पर हारावलि पहिनते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानों चंद्रमा के चारों ओर पारस बन गया हो। इस प्रकार वह श्याम नाम को जीतने के लिये विष्णु के चरणों में ध्यान लगा रही है, तात्पर्य यह है कि श्याम रंग पर कोई रंग नहीं चढ़ता, परंतु वह श्याम (कृष्ण) पर रंग चढ़ा कर यह दिखाना चाहती है कि श्याम पर मेरा रंग चढ़ सकता है, अथवा वह श्याम को आधीन कर सकती है।

अलंकार—

१. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा—

बिधु-बदनी। इसमें बिधु उपमान तथा बदनी उपमेय है, किंतु वाचक और साधारण धर्म नहीं है।

२. रूपकातिशयोक्ति—

कमलनि मज्जित, कमलनि रचि-रचि, कमल कमल पर रेख बनावति। इसमें कमल शब्द केवल उपमान ही उपमान है।

३, वस्तूत्प्रेक्षा, उक्तास्पद—

उर०...पारै। यहाँ हारावलि तथा पारस दोनों ही उक्त वस्तुओं को लेकर उत्प्रेक्षा की गई।

४. परिकरांकुर—

'श्याम' विशेष्य साभिप्राय प्रयुक्त है।

रस—शृंगार रस। आलंबन वर्णन।

टिप्पणी—

सरदार कवि ने इस भाँति टीका की है—

"बिधु बदनी इति। उक्ति सखी की सखी सों। हे बिधु बदनी, कमल निहारै है। सुमना जो है चमेली ताको सत जो है तेल ताहि लै कमल मुख में लगाय धनपति कुबेर ताको धाम अलका सो अलक केश सँवारे है अरु तरणि सूर्य ताके तात कश्यप ताकी स्त्री कद्रु ताके पुत्र पन्नग केश सँवारे है कर कमलन ते गांठ लगावत अर्थ वेणी गूथत है और कमल नयन में कमल कर सों काजर देत है अरु सारँग दीप ताको शत्रु पट, पाहन मणि तिन सों गथि के ओढ़े हैं। उर में हारावलि मेले है कर कमलन सों मानों इंदु जो चंद्रमा सोई है हारावलि अरु पारस कुच तिनके पास पहिरे है।"

(३६)

राग नट

राधे, तेरे नैन किधौं री बान।
यौं मारैं ज्यौं मुरछि परै धर, क्यौं करि राखै प्रान॥
खग पर कमल, कमल पर कदली, कदली पर हरि ठान।
हरि पर सरबर, सर पर कलसा, कलसा पर ससि भान॥
ससि पर बिंब, कोकिला ता बिच, कीर करत अनुमान।
बीच-बीच दामिनि दुति उपजत, मधुप-जूथ असमान॥
तू नागरि सब गुनन उजागरि, पूरन कला निधान।
सूर स्याम तब दरसन कारन, ब्याकुल परे अजान॥ *

शब्दार्थ—धर=धरा, पृथ्वी। **खग**=पक्षी, हंस की चाल। **हरि**=सिंह, सिंह सी कटि। **मधुप-जूथ**=भौरों का समूह, केश-राशि।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे राधे! यह तेरे नेत्र हैं अथवा बाण हैं, क्योंकि तेरे कटाक्ष रूपी बाण के लगते ही (नायक) मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, फिर उसके प्राणों की रक्षा किस प्रकार हो सकती है। (इस पर भी) तेरी हंस-सी चाल पर कमल से चरण हैं, चरणों पर कदली जैसी जंघा, जंघाओं पर सिंह रूप कटि, कटि पर सरोवर रूप नाभि और नाभि पर कुच कलश हैं। कुचों पर मुख

* ना. प्र. ११६०-३३६०। वें. ४००-६१। बाल. ४८-३७।

चंद्र, मुख-चंद्र पर बिंबाधर, अधरों के बीच में कोकिला का स्वर, फिर नासिका रूपी शुक आप ही विचार मग्न बैठा है, अर्थात् वह स्थिर है और हास्य के समय बिजली सी कौंध जाती है। मस्तक रूपी आकाश पर भ्रमरावली रूपी केश-राशि है। हे राधे! तू सब गुणों को प्रकाशित करनेवाली है और संपूर्ण कलाओं की कोश है। तू इस बात को भली भाँति समझ ले कि तेरे दरशन के लिए ही कृष्ण, संज्ञाहीन होकर व्याकुल पड़े हैं (कहने का तात्पर्य यह है कि तेरे नैन बाण लगने से वह बेसुध हो गये हैं। अब तू ही चल कर अपना दर्शन देकर उन्हें जीवन दान दे)।

अलंकार—

१. संदेह—

"राधे०...बान।" यहाँ नैन और बाण दोनों में संदेह है। इस लिए संदेहालंकार है।

२, अक्रमातिशयोक्ति—

यौं०...धर।" बाण मारने और मूर्छित होकर पड़ने का कार्य एक साथ ही हुआ।

३, रूपकातिशयोक्ति—

इन खग, कमल, कदली इत्यादि में केवल उपमान ही उपमान का वर्णन है। साधारण धर्म, उपमेय और वाचक नहीं।

रस—श्रृंगार रस, आलंबन वर्णन, दूती-द्वारा विरह-निवेदन।

टिप्पणी—

"राधे०....प्रान।" ब्रजनिधि ने सूरदास की भाँति ही राधे के नैन-बाणों का वर्णन इस प्रकार किया है—

राधे चंचल चखन के, कसि-कसि मारत बान।
लागत मौंहन दगन मैं, छेदत तन मन प्रान॥
छेदत तन मन प्रान, कान्ह घायल ज्यौं घूमैं।
तऊ चोट कौ चाउ धार सौं धावहिं तूमैं॥
सुभट सिरोमनि धीर, बीर ब्रजनिधि कौं लाधे।
याही तैं निसि-द्यौस, करति कमनैती राधे॥

(४०)

राग बिलावल

दधि-सुत-बदनी, दधिहिं निवारौ[1]।

दधि-सुत दृष्टि मेलि दधि-सुत में, दधि-सुत-पति सौं क्यौं न बिचारौ ॥

धरहिं छाँडि कैं, धरहिं पकरि लै, धरहु लता घन स्याम सँवारौ।

हार पहिरि करि, हार पकरि करि, हार गोवरधन-नाथ निहारौ ॥

समुझि चली बृषभाँनु-नंदनी, आलिंगन गोपाल पियारौ।

बिद्यमान कलहंस जात गलि, सूरदास अपनौं तन वारौ ॥ *

शब्दार्थ—"दधि-सुत-बदनी" = चंद्र-मुखी। दधिहिं = समुद्र के ज्वार जैसे विचारों को, क्रोध को। निवारौ = दूर करौ। दधि-सुत = जालंधर राक्षस। दधि-सुत-पति = श्री कृष्ण। धरहिं = पृथ्वी को। धरहिं = धरन, टेक। धरहु = धारण करो। हार = आभूषण, हार, खेत, कुंज।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे चंद्रमुखी! तुम क्रोध का निवारण करो। इस राक्षसी दृष्टि को चंद्र सी शीतल करके (नायक) श्री कृष्ण का ध्यान क्यौं नहीं करती? पृथ्वी को छोड़ो, अर्थात् अब उठो और यह टेक करके (कि मुझे क्रोध नहीं करना) वस्त्र पहिनो, केश सम्हालो, हार पहिनो और कृष्ण से खेतों (कुंजों) में जाकर मिलो चाहे इसमें तुम्हारी हार ही हो। श्री राधा, यह बात, समझ कर, प्यारे गोपाल से मिलने चल दी और हंस के समान गली में जाती हुई देख कर सूरदास अपना तन-मन न्यौछावर करते हैं।

अलंकार—

यमक—

दधि-सुत, धर और हार शब्द का अनेकार्थ में प्रयोग होने से।

रस - श्रृंगार रस, सखी का नायिका का शिक्षा द्वारा मान-मोचन।

(४१)

राग सोरठ

राधे, हरि-रिपु क्यौं न छिपावति।

मेरु-सुता-पति ताके पति-सुत ताकौं क्यौं न मनावति ॥

पा०—(१) वें. दधि सुत वदनी राधिका. दधि दूरि निवारौ।

* ना. प्र. ११६१-३३६४। वें. ४०१-६५।

हरि-बाहन ता बाहन उपमा, सो तैं धरै दृढ़ावति।
नव और सात बीस तोहि सोभित, काहे गहरु लगावति ॥
सारँग बचन कह्यौ करि हरि सौं, सारँग बचन न भावति।
सूरदास प्रभु दरस बिना तुव, लोचन नीर बहावति ॥*

शब्दार्थ—**हरि-रिपु** = हरि सूर्य, उसका रिपु तम = क्रोध। **मेरु०......सुत** = मेरु, हिमाचल, उसकी सुता पार्वती, उनका पति महादेव, उनके पति श्री कृष्ण, उनके पुत्र अनिरुद्ध = कामदेव। **हरि०......बाहन** = हरि बंदर, उसका वाहन वृक्ष, उसका वाहन पृथ्वी, जड़ता। **नव अरु सात**=सोलह शृंगार। **बीस**=बिष **सारँग**=अमृत, बाण।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे राधे! तू क्रोध को क्यों नहीं छिपाती है तथा काम की आराधना क्यों नहीं करती। तू इस प्रकार जड़ता को दृढ़ता पूर्वक क्यों ग्रहण किये हुए है? यह सोलह शृंगार तुझे विष से लग रहे हैं (शृंगार का उपयोग जब ही है जब नायक उसे देख कर रीझे) इस लिये तू देर क्यों लगा रही है? (कृष्ण से चल कर मिल)। तुझे कृष्ण से अमृत जैसे वचन कहने चाहिए, बाण जैसे वचन शोभा नहीं देते। तेरे वियोग में कृष्ण आँसू बहा रहे हैं (और तू यहाँ मान किये हुए बैठी है)।

अलंकार—

१. वाचक-उपमेय-लुप्तोपमा—

'नव अरु सात बीस तोहि सोभित' इसमें बीस (विष) उपमान, सोभित साधारण धर्म है शृंगार उपमेय और से वाचक का लोप है'।

२. यमक—

सारँग०......भावति। यहाँ सारंग अनेकार्थ में प्रयोग होने से।

३. रूपक—

'सारँग-बचन' में

रस—शृंगार रस, सखी-कर्म, शिक्षा।

---

* ना. प्र. ११६२–३३६५। वें. ४०१–६६। नव. २०४–३३६। दि. १७३–८४४। सर. १०७-४। दि. १७३-८४४।

(४२)

राग नट

राधे, हरि-रिपु क्यौं न दुरावति ।
सैल-सुता-पति तासु सुता-पति, ताके सुतहिं मनावति[१] ॥
हरि-बाहन सोभा यै ताकी, कैसैं धरैं सुहावति ।
द्वै अरु चार छहौ वै बीते, काहे गहरु लगावति ॥
नव अरु सात ए जु तोहि सोभित, ते तू कहा दुरावति[२] ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, सारँग भरि-भरि आवति ॥[३]*

शब्दार्थ—सैल०···सुतहिं=सैल पहाड़, उसकी पुत्री नदी, उसका पति समुद्र, उसकी सुता लक्ष्मी, उनका पति विष्णु=कृष्ण, उनका सुत कामदेव । हरि०··· शोभा=हरि सूर्य, उसका वाहन घोड़ा, उसकी शोभा घूँघट । द्वै अरु चार छहौ= बारह घड़ी । नव अरु सात-सोलह शृंगार । गहरु=देर ।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से ।

भावार्थ—हे राधे, तू क्रोध क्यों नहीं छिपाती, अर्थात् क्रोध को क्यों नहीं छोड़ती और काम को क्यों नहीं मनाती । तुझे यह घूंघट शोभा नहीं देता । बारह घड़ी बीत चुकी फिर भी तू देर लगा रही है । तू अपने सोलह शृंगार को क्यों छिपा रही है, अर्थात् शृंगार तो तूने मिलने के लिए ही कर रखे हैं, परंतु अपने हठ के कारण उन्हें छिपा रही है । शायद तू यह दिखाना चाहती है कि तू उनसे मिलना नहीं चाहती । श्रीकृष्ण तुम्हारे मिलने के लिये नेत्रों में आँसू भरे ला रहे हैं—और तू यहाँ बैठी क्रोध कर रही है ।

रस – शृंगार रस, सखी द्वारा उपालंभ ।

(४३)

राग सारंग

राधे, हरि-रिपु क्यौं न दुरावति ।
सारँग-सुत-बाहन की सोभा, सारँग-सुत न बनावति ॥

पा०—(१) नव. मेरु सुता पति पति ताके सुत ताकों क्यों न मनावत ।
हरि-बांहन ता बाहन उपमा सो तै धरै दृढ़ावत ॥
(२) वें. नौ अरु सात राज तँह सोभित ते तू क्यौं न दुरावति ।
(३) वें. श्री रँग-रँग भरि आवति ।

* ना. प्र. ११६२-३३६६ । वें. ४०१-६७ । नव. ५६१-८ । सर. १०७-१५ ।

सैल-सुता-पति ताके सुत-पति, ताके सुतहिं मनावत।
हरि-बाहन के मीत तासु पति, ता पति तोहि बुलावत॥
राका-पति नहिं कियौ उदौ सुनि, या समये नहिं आवत।
बिबिध बिलास अनंद रसिक सुख, सूर स्याम-गुन गावत॥*

शब्दार्थ—हरि-रिपु = मान। सारँग···शोभा = सारंग समुद्र, उसका सुत चंद्रमा, उसका वाहन मृग जैसे नेत्र। सारँग-सुत = दीपक का सुत काजल। सैल०···सुतहिं = सैल-सुता नदी, उसका पति समुद्र, उसका सुत चंद्रमा, उसका पति सूर्य, उसका सुत शनिश्चर-गुण मंदता। हरि०···पति = हरि इंद्र, उसका वाहन मेघ, उसका मीत (मित्र) जल, उसका पति वरुण, उसका पति कृष्ण। राका-पति = चंद्रमा।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे राधे! तू मान का परित्याग क्यों नहीं करती। तू अपने मृग जैसे नेत्रों में काजल क्यों नहीं लगाती और मंदता पर अड़ी हुई है। तू यह नहीं सोचती कि कृष्ण तुझे बुला रहे हैं। तू सुन ले, तेरे ही लिए अब तक चंद्रोदय नहीं किया है। इसलिए अंधकार होने से अभिसार के लिए उत्तम समय है, फिर यह समय नहीं आने का। अनेक प्रकार के विलास और आनंद में रसिक श्रीकृष्ण तेरी प्रशंसा करते हैं, अर्थात् उनकी यह प्रशंसा ही तेरे गुणों की विशेषता बतलाती है।

अलंकार—

यमक—

'सारँग' शब्द दो बार दो अर्थों में आया है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती, सखी-कर्म शिक्षा।

टिप्पणी—

'सुनि या समये नहिं आवत'—

सूर की सखी ने जहाँ अंधकार बतला कर अभिसार की प्रेरणा की है वहाँ 'ठाकुर' की दूती मुख-चंद की चाँदनी बता कर तथा आगे आने वाले अंधकार (यौवन के अवसान) का भय दिखा कर यह कहती है कि यह समय नहीं आने का।

* ना. प्र. ११६२-३३६७। पो. ३१६-१०२५। वें. ४०१-६८।

"यह चारहुँ ओर उदै मुख-चंद कौ, चाँदनी चारु निहार लै री।
बलि, तेरे अधीन भयौ पिय प्यारौ, ए तौ बिचार-बिचार लै री॥
कवि 'ठाकुर' चूक गयौ जो गुपाल, तौ तू बिगरी कौं सुधार लै री।
फिर रै-है, न रै-है यहै समयौ, बहती नदी पाँइ पखार लै री॥"

(४४)

राग सारंग

राधा, तैं बहु लोभ करयौ।
लावन-रथ ता पति आभूषन, आनन ओप हरयौ॥
मृग[1], कोदंड, अवनि-धर चपला, बिबस जु कीर अरयौ।
पिक, मृनाल-अरि ता अरि रूपहिं[2], तैं बपु आप धरयौ॥
जलचर-गति[3], मृगराज सकुचि जिय, सोचनि जाइ परयौ।
सूरदास प्रभु कौं मिलि भामिनि, निस सब जात टरयौ॥*

शब्दार्थ—लावन ˙˙ आभूषन = लावन-रथ बैल, उसका पति महादेव, उसका आभूषण चंद्रमा। मृग = हरिण। कोदंड = धनुष। अवनिधर = शेष, सर्प। मृनाल-अरि = मृणाल का शत्रु हाथी, उसका अरि ग्राह, ग्रहण करना। बपु = शरीर। जलचर-गति = मछली की सी गति।

प्रसंग— सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे राधे, तू बड़ी लोभीन है (तू संग्रह तो खूब करती है, परंतु खर्च नहीं करती)। तेरे मुख ने चंद्रमा के मुख की कांति हरण कर ली है, नेत्रों ने हरिण की, भृकुटि ने धनुष की, वेणी ने सर्प की तथा हास्य ने चपला की, कोयल, मृणाल और हाथी ने वाणी, भुजा और जंघाओं के रूप को स्वयं ही धारण कर लिया है (अर्थात् इनके गुणों को तू ने संग्रह कर लिया है)। कीर विवश होकर नासिका पर अड़ गया है। मछली की गति (नेत्रों को देख कर) मछली-सी हो गई है और सिंह के हृदय में तो संकोच और सोच हो गया है (नेत्रों को देख कर मछली के हृदय में चैन नहीं है, वह तड़फती है क्योंकि वह समझती है कि मेरी चंचलता तो राधा के नेत्रों ने छीन ली अब मेरे पास क्या है ? सिंह के हृदय में भी यही सोच और संकोच है कि मेरी कटि

पा०—(१) वें. भृकुटि। (२) वें. अरि अरित रूप सम। ना. प्र. (३) गज।
* ना. प्र. ११६३-३३६८। वे ४०१-६६। सर. १०६-१७।

की सुंदरता तो राधा ने छीन ली, अब कवि लोग क्षीण कटि की उपमा में उसका उपयोग क्यों करेंगे)। हे भामिनि ! तू (अब उनका उपयोग कर और) कृष्ण से मिल, क्योंकि रात्रि बीती जा रही है।

अलंकार—

१. तृतीय प्रतीप—

(अ) लावन०… हरयौ।

(ब) मृगराज०…परयौ।

इसमें चंद्रमा और मृगराज की उपमाओं की हीनता सिद्ध होती है।

२. अनन्वय—

'जलचर गति' यहाँ जलचर की गति जलचर जैसी ही है। इसलिये अनन्वय-अलंकार हुआ।

जाकी उपमा ताहि सौं, दिऐं अनन्वय मान।
तेरे मुख की जोड़ कौं, तेरौ ही मुख मान॥
(काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

टिप्पणी—

सूरदास ने इसी भावना को दूसरे पद में इस भाँति व्यक्त किया है।

राधे, यामैं कहा तिहारौ।
मुख हिमकर, तनु हाटक बैंनी, सो पन्नग अँग कारौ॥
गति मराल, केहरि कटि, कदली जुगल जंघ अनुहारौ।
नैन कुरंग, बचन कोकिल के, नासा सुक कँह गारौ॥
बिद्रुम अधर, दसन दाड़िम कन, करौ न तुम निरवारौ।
सूरदास-प्रभु त्रिभुवन पति कौं, एक न उनहिं निवारौ॥

'तोष कवि' ने "जलचर० ……परयौ" इस भाव को रूपगर्विता के मुख से बड़ी सुंदरता से कहलाया है।

"आनन-पेखि कलंकित भौ ससि, मो दृग-पेखि मृगी बन लीनीं।
कोकिल स्याम सुनैं बतियाँन, सु बैंनी चितै बिष ब्यालनी भीनीं॥
कुंदन हूँ दुति देखि लजै, उर लागत 'तोष' दया पर बीनीं।
हौं पछतात ह-हा सजनी, बिधि मोहि कहा रचि पातकी कीनीं॥"

(४५)

राग नट

कहि पठई हरि बात सु चित दै, सुनि राधिके सुजान ।
तैं जु बदन झाँप्यौ झुकि अंचल, यै न दुख मो आन ॥
इहिं पै दुसह जु इतनेहिं अंतर, उपजि परे कछु आन ।
सरद-सुधा-ससि की नव कीरत, सुनियत अपने कान ॥
खंजरीट, मृग, मीन, मधुप, पिक, कीर करत हैं गान ।
बिद्रुम-अंस बँधूक बिंब-मिलि, देत कविन छबि दान ॥
दाड़िम, दामिनि, कुंद-कली मिलि बाढ़्यौ बहुत बखान ।
सूरदास उपमा नछत्र-गन, सब सोभित बिनु भान ॥*

शब्दार्थ—झाँप्यौ=ढक लिया । खंजरीट=खंजन ।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से ।

भावार्थ—हे सुजान राधे, श्री कृष्ण ने जो मुझसे तुमको कहलाया है उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो । (उन्होंने कहा है कि) मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि तुमने झुक कर अपना मुख अंचल से ढक लिया, परंतु इससे जो असहनीय अंतर पड़ गया है, उसी का मुझे दुख है । (क्या अंतर पड़ गया है उसी का वर्णन अब दूती कर रही है) शरद के सुधा-मय चंद्रमा की अब नयी ही बात सुनाई पड़ रही है, अर्थात् तेरे मुख ढक लेने से अब लोग उसकी प्रशंसा कर रहे हैं । खंजन, मृग, मीन, भ्रमर, कोयल और शुक प्रसन्न होकर गाने लगे हैं, अर्थात् तेरे नेत्रों के आगे खंजन, मृग, मीन की, केशों के आगे भ्रमरावली की तथा नासिका के आगे शुक की कोई पूछ नहीं थी, सो अब उनकी पूछ होने लगी है । मूंगा, दुपहरिया का फूल और बिंब अब कवियों को सुंदरता का दान दे रहे हैं । (कवि लोग अब तेरे अधरों के न दिखाई देने से इनकी सुंदरता को श्रेय देने लगे हैं) । दाड़िम, दामिन, कुंद-कली की प्रशंसा अब बहुत बढ़ गई है, अर्थात् तेरी दंतावली के न दीखने से यह प्रशंसा-पात्र हो गये हैं । यह बात ठीक ही है कि सूर्य के अभाव में ही तारा गण सुंदर दिखाई देते हैं, अर्थात् नक्षत्र गणों का प्रकाश तभी तक रहता है जब तक सूर्य का उदय नहीं होता ।

---

* ना. प्र. ११६७-३३८८ । वें ४०३- ७ । सर. १०६- ८ ।

अलंकार—

पंचम प्रतीप—

इस पद में राधा के मुख से सभी उपमान व्यर्थ सिद्धि होते हैं—

लक्षण—

उपमेय के अनुमान में, व्यर्थ होय उपमान ।

(काव्य-प्रभाकर)

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती ।

टिप्पणी—

१. सूरदास ......भान ।

यह भाव सूरदास ने 'पंचतंत्र' के निम्न श्लोक का लिया है—

खद्योते द्योतते तावत् यावन्नोदयते शशी ।
उदिते तु सहस्रांशौ न खद्योतो न चन्द्रमा ।।

अर्थात् "तारा गण उसी समय तक प्रकाश करते हैं जब तक चंद्रमा का उदय नहीं होता (किंतु) सूर्य के उदय होने पर न तारा गण ही हैं और न चंद्रमा ही ।

२. 'किशोर' की दूती ने मानवती नायिका को मुजरिम बना कर कृष्ण के हजूर में हाजिर होने को कहा है

"कारी भई कोइल कुरंग-बपु कारे भए,
कुढ़ि-कुढ़ि केहरि सुलंक लंक हदली ।
जरि-जरि जंबुन बिद्रुम बिदारयौ मुख,
अंग फाट्यौ दाड़िम तुचा भुजंग बदली ।।
एहो चंद-बदनी तैं कलंकी कियौ चंद तो,
बोलै ब्रजचंद सो 'किसोर' बैठ्यौ अदली ।
मूड़ छार डारैं गजराज से करैं पुकार,
पुंड़रीक बूड़यौ री, कपूर खायौ कदली ।।"

(४६)

राग सारंग

रही दै, घूँघट-पट की ओट ।
मनौं कियौ फिर मान-मवासौ मनमथ बंकट[१] कोट ।।

पा०—(१) सर. बिंकटे ।

नहँ-सुत कील, कपाट सुलच्छन, दै दृग-द्वार अगोट[1] ।
भीतर भाग कृष्न भूपति कौ, राखि मधुर मधु-पोट ॥
अंजन, आड़, तिलक, आभूषन, सजि[2] आयुध बड़-छोट ।
भृकुटी सूर गही कर[3] सारँग, करत कटाच्छनि चोट ॥*

शब्दार्थ—ओट=आड़ । मवासौ=आश्रय, स्थल । बंकट=दुर्गम । मनमथ= कामदेव । नँह-सुत=नख का पुत्र, नख चिन्ह । सुलच्छन=पलक । अगोट=रोक कर, बंद करके । मोट=पोटली । सारँग=धनुष ।

प्रसंग— सखी का वचन नायिका से ।

भावार्थ—तू अपने मुख को घूंघट के पट से ढक कर बैठी हुई है (वह ऐसा प्रतीत होता है), मानों मान ने फिर कामदेव के दुर्गम दुर्ग पर अपना आश्रय स्थल बना लिया हो, अर्थात् तेरे मन में मान आगया है । यद्यपि तूने दृग-द्वार को पलक रूपी किवाड़ों से बंद करके नख-चिन्ह रूपी कीलें जड़ दी हैं, अर्थात् तूने आँखें बंद कर रखी हैं, फिर भी मैं भली-भाँति जानती हूँ कि तेरे हृदय के भीतरी-भाग में श्री कृष्ण का ही राज्य है, जिनकी तू मधुर रस की गठरी सी रक्षा कर रही है, अर्थात् यह मान तो तेरा दिखावे भर का है । वास्तव में तू कृष्ण की मधुर स्मृतियों में लवलीन है । इसी लिये तो तूने अजंन, आड़, तिलक, आभूषण-आदि छोटे-बड़े शस्त्रों से सुसज्जित हो कर (शृंगार करके) भृकुटी-धनुष से कटाक्षरूपी बाण चला रही है, (जिससे कृष्ण हार कर तुम्हारे पास आकर तुम्हें मना लें) ।

अलंकार—

१. **हेतूत्प्रेक्षा-असिद्धास्पद**—

'रही······कोट' । इसमें घूंघट-पट की ओट करने का हेतु मान का मनमथ-कोट पर मवास (आश्रय) बनाना नहीं, फिर भी अहेतु को हेतु मान कर उत्प्रेक्षा की गई है । इस लिए हेतूत्प्रेक्षा हुई । मनमथ-कोट असिद्ध वस्तु है, इसलिए असिद्धास्पद हुई ।

२. **सांग-रूपक**—

इस पद में कोट का सावयव आरोप है । इस लिए सांग रूपक है ।

सर—शृंगार रस, नयिका मानवती ।

पा०—(१) अकोंट, (२) सचि, (३) करि ।

* ना. प्र. ११६८–३३८७ । वें. ४०३-१८ । सर. ११०-१८ ।

(४७)

राग बिलावल

तैं जु नील-पट ओट दियौ री ।

सुनि राधिका, स्याम सुंदर सौं, बिनहिं काज अति रोष कियौ री ॥
जल-सुत-बिंब मनहुँ जल राजत, मनहुँ सरद-ससि राहु लियौ री ।
भूमि-धसन किधौं कनक-खंभ चढ़ि, मिलि रस ही रस अमृत पियौ री ॥
तुम अति चतुर सुजान राधिका, कत राख्यौ भरि मान हियौ री ।
सूरदास-प्रभु अँग-अँग नागरि, मनहुँ काम बिय रूप कियौ री । *

शब्दार्थ—जल-सुत=कमल । बिंब=छाया । भूमि-धसन=सर्प । नागर=चतुर ।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से ।

भावार्थ—हे राधा ! सुन, तू ने अकारण ही कृष्ण से क्रोधित होकर अपने मुख को नील-वस्त्र से ढक लिया है, वह ऐसा प्रतित होता है; मानों जल के भीतर से कमल का प्रतिबिंब दिखाई पड़ रहा हो (सखी के कहने अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रतिबिंब में किसी वस्तु का वास्तविक सौंदर्य नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार तेरे मुख पर अंचल आजाने से उसका वास्तविक सौंदर्य नष्ट हो गया है अथवा तेरे मुख की शोभा को क्रोध ने दबा लिया है)। मानों शरद के चंद्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो, अथवा स्वर्ण-खंभ रूपी देह पर चढ़ कर वेणी रूप सर्प तेरे मुख-चंद्र के अमृत को पिये जा रहा हो (यहाँ राहु के ग्रसने अथवा सर्प के अमृत-पान से मुखका कान्ति-हीन होना सिद्ध है) । हे राधा ! तुम स्वयं चतुर हो और सब कुछ समझती हो, फिर तुमने अपने हृदय में मान क्यों धारण कर रखा है ? श्री कृष्ण तो सब प्रकार से ऐसे चतुर हैं, मानों कामदेव ने ही दूसरा रूप धारण कर लिया हो, अर्थात् तुम उनको देखोगी तो देखते ही इस क्रोध को छोड़ कर उन पर मोहित हो जाओगी ।

अलंकार—

१. वस्तूत्प्रेक्षा-उक्तास्पद—

(अ) जलसुत० ··· राजत ।

(क) मनहु० कियौ री ।

(च) प्रभू० .. बियौ-री ।

---

* ना. प्र.११६८–३३८८ । सर. ११२–२१ । वें ४०३-१६ । बाल. ६७-५१ ।

२. संदेह—

भूमि० पियौ-री।

रस—श्रृंगार रस, नायिका मानवती।

टिप्पणी—

बाल किशन ने निम्नलिखित पाठ और अर्थ देकर नायिका वासकसज्जा मानी है।

"तैं जु नील पट ओट लियो।
जल सुत किरन भइ अति सोभा मानहुँ अरध ससि राहु गह्यौ॥
भूमि धसन सिर मज्जन कीनों उरना भष रिपु तामें दयो।
सूरदास स्वामिनी की शोभा कमल-कमल प्रति भ्रमर ठयो॥

अर्थ। सखी की उक्ति नायक सों। नायिका ने मंजन कियो है तासों अंगन की दुति प्रकासित है। सिंगार हू किये हैं तातें वासकसज्जा नायिका कहिये। श्री मुख पर नील-पट को ओट लयों। जल-सुत चन्द्रमा-सी मुख की किरनावाली की शोभा अति सै भई। ताकी उत्प्रेक्षा मानों राहू ने अर्ध ससी की ग्रस्यो होय। राहू के ग्रसे तें चन्द्रमा की दुति हीन होय जात है। वैसे इहां नहीं। इहां तो अधिक सोभा भई है। भूमि-धसन जो कुर्कुट ताको सिर सिषा आरक्त कुंकुम समान होत है। कुंकुम जो केसर तासों मंजन कीने है। उरना जो उर्न-नाभि माकड़ी को कहत हैं ताको भष माषी ताको रिपु तेल सो सुगंधित केसन में दियो है। ता पाछे सकल अंगन को सिंगार कियौ है। तामें ठौर-ठौर स्याम मखतूल के फुंदना लगाये हैं तथा नील मणिहू ठौर-ठौर आभूषन में लगे हैं तथा भाल पै मृग मद की बिंदुली कपोल पै, ठोड़ी हू पै स्याम बिंदुली दिये हैं सो भ्रमर सरीखे शोभा कों देत हैं।

(४८)

राग बिलावल

सारँग-रिपु की ओट रहे दुरि, सुंदर सारँग चारि।
ससि, मृग, फनिग, ध्वनिग[१], द्वै[२], अँग-सँग सारँग की अनुहारि॥
तामैं एक और[३] सुत सारँग बोलक[४] बहुरि बिचारि।
परकृत[५] नाम एक हैं दोऊ, किधौं पुरुष किधौं[६] नारि॥

पा०—(१) सर. धुनिग, बाल. धनुष। (२) सर., बाल. दोउ। (३) सर. अत्तर। (४) बाल. बालक। (५) प्रकृति। (६) को।

ढाकति कहा प्रेम-हित सुंदरि, सारँग नैंकु उघारि।
सूरदास प्रभु मोहे[1] रूपहिं, सारँग बदन निहारि॥

शब्दार्थ—**सारँग-रिपु** = सारँग दीपक, उसका शत्रु वस्त्र, घूँघट। **फनिग** = सर्प। **ध्वनिग** = कोयल। **सारँग** = कमल। **सुत-सारँग** = कोयल का पुत्र, वाणी। **बोलक** = बोलने वाला। **परकृति** = प्रकृति। **सारँग** = वस्त्र। **सारँग** = चंद्रमा।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से।

भावार्थ—तेरे घूँघट की आड़ में चार सुंदर सारंग छिपे हुए हैं। ये चंद्रमा, हरिण, सर्प और कोयल हैं, जिनमें से दो (मृग और शशि) कमल के रूप वाले हैं (नेत्र-मृग और मुख-चंद्र इन दोनों को कमल की भी उपमा दी जाती है)। उसमें एक कोयल-पुत्र (वाणी है,) जो बहुत ही विचार पूर्वक बोलनेवाली है। (अंत में) सर्प जैसी वेणी है, प्रकृति तो दोनों की एक-सी है, पुरुष है अथवा नारि यह नहीं कहा जा सकता (वेणी सर्प है, अथवा सर्पणी यह तो कहा नहीं जा सकता, परन्तु गुण सब एक से हैं)। हे सुंदरि ! तू इनको क्यों ढक रही है। प्रेम के लिये (प्रेम के नाम पर) तनिक अपने मुख पर से वस्त्र हटा दे। श्री कृष्ण तेरे सारंग-मुख को देख कर मोहित हो गये हैं (सारंग-मुख से तात्पर्य यह है कि ऐसा मुख जिसमें चारों सारंग हैं अथवा मुख-चंद्र)।

अलंकार—

१. यमक—

सारंग शब्द की अनेक अर्थ में अनेक आवृत्ति होने से।

२. संदेह—

किधौं पुरुष किधौं नारि।

३. पुनिरुक्तवदाभास

'प्रेम-हित'। यहाँ प्रेम और हित समानार्थक दिखाई पड़ रहे हैं, किंतु अर्थ पृथक्-पृथक् हैं।

लक्षण—

पुनिरुक्ति-सी दीखत परै, पै पुनिरुक्ति न होय।

रस—श्रृंगार रस, नायिका मानवती।

पा०—१ बाल. मोहन।

* ना. प्र. ११६८—३३८६। वें. प्रे. ५१२-१७। वें. ४०३-२०। सर. १११-२०। बाल. ३०-२२।

टिप्पणी—

बालकिशन ने 'तामैं एक अवर सुत' से 'किधौं पुरुष किधौं नारि' का अर्थ इस प्रकार किया है।

''तामें एक और सारंग को सुत है और एक बालक हू है। यहाँ सारंग पद बीच में है सो देहरी-दीपक न्याय करि सुत तथा बालक दोउ ओर सारंग शब्द की आवृति है ताते सारंग जो मृग ताको सुत मृग-मद कस्तूरी की बेंदी भृकुटि के बीच में दीने है और सारंग जो दीपक ताको बालक काजर ताको विंदु जो भृकुटी बीच धारयौ है, सो ताकी उपमा को अर्थ कीजै तो सारंग सूर्य ताको बालक सनी सो स्याम है, सो मानों सनी बैठ्यौ हैं और चिबुक में काजर को विंदु है ताकी उपमा को अर्थ कीजै तो सारंग जो भ्रमर ताको सुत छोटो भ्रमर सो बैठो है। उक्तंच।

स्याम-बिंदु गोरी ठोड़ी पर उपमा चतुर बिचारी।
मनु अरबिंदु चल्यौ न चलयौ, मचल्यौ अलि को चिकुलारी॥

या भाँति सोभा को अर्थ कीजिये। अथ कुंतल केस के वर्णन करिये तो तिनकी उपमा के हेत हैं। सारंग जो भ्रमर, सारंग जो सर्प काली, सारंग जो मेघ, सारंग जो रात्रि, इनके बालक से मानों शोभा देते हैं और सारंग जो जल तें भयों जो सिवार। याहू की उपमा केसन को देत हैं और सारंग जो शृंगार रस सो श्याम है याको बालक संतति मानों सोभा कुंतल की है और सीस पर चाँद सीसफूल है तिनकी एक ही प्रकृति है। सो या भाँति जो हीरा सों जड़ित ज्योति तें जकरिए कहैं परंतु नाम दोय हैं तहाँ केस जो रात्रि है। प्रकास है सो दिवस है सो चंद्र सूर्य की स्त्री है चाँद को अष्टमी मो सीस फूल है सो पून्यों को चन्द्रमा है ऐसो अर्थ करिये तो केस जो रात्रि तासों सहित है।

(४६)

राग बिलावल

यहै तेरौ बृंदावन बाग।

सुनि राधिके कदंब बिटप की, साखा एक अमृत-फल लाग॥
स्याम पीत कछु अरुन अमित छबि, बरनि न जाई अंग बिभाग।
अति सुपक्क मुरली के परसत, चुइ-चुइ परत अमी-रस राग॥
व्रज-बनिता बर बारि कनक मय, रोकैं रहत सुरासुर नाग।
तब ताप छुइ सकत न सुंदरि, सुक मुनि, मरकट, कोकिल, काग॥

मैं मालिनी जतन करि जुगयौ, सींचत हाथ परे है दाग[1] ।
सूर स्याम[2] उठि परसि भामिनी[3], पिय पियुष पाएँ[4] बड़ भाग ॥ *

शब्दार्थ—अमृत-फल = आम, अमृत-भरे अधर । बारि = घेरा, मेंड़ ।

प्रसंग—दूती राधा से कहती है कि नायक केलि-कुंज में तेरे स्मरण में रोमांचित हुआ तेरी प्रतीक्षा कर रहा है । यह उसी का वर्णन है ।

भावार्थ—हे राधा ! यह वृंदावन तेरा ही बाग है (वृंदावन राधा की केलि भूमि है । स्वामिनी होकर उसकी रक्षा करना उसका धर्म है) । उसके एक कदंब की डाल में एक अमृत फल लगा हुआ है । (वह कदंब वृक्ष कैसा है) उसके अंग की आभा का वर्णन नहीं किया जा सकता । वह कुछ श्याम (घनश्याम की देह का रंग), कुछ पीत (पीत पट) और कुछ अरुणिमा (अधरों की अरुणिमा) लिये हुए है । वह अमृत फल इतना पका हुआ है कि मुरली के स्पर्श मात्र से ही राग रूपी रस टपकने लगता है (दूती के कहने का तात्पर्य यह है कि वृंदावन की कमनीय केलि-भूमि में कृष्ण तुम्हारे ध्यान में रोमांचित होकर अपने सुधाधरों से मुरली बजा कर अमृत बरसा रहे हैं) । स्वर्णांगी गोपियाँ ही उस बाग की स्वर्णमयी मेंढ़े हैं, जो सुर, असुर और नागों (रूपी पशुओं) को (उसमें प्रवेश करने से) रोके रहती हैं, अर्थात् उस स्थान पर केवल सहचरी गण ही रहती हैं और किसी का वहाँ प्रवेश नहीं है । तुम्हारे प्रताप से शुक, मुनि, बंदर, कोकिल और काग (जिनको मेंड़ रोकने में असमर्थ रहती है) भी उसका स्पर्श नहीं कर पाते, अथवा उस रस को शुकदेव जी जैसे मुनि, हनूमान, कोकिल ऋषि और काग भुसुंडी भी नहीं जानते (क्योंकि वे ब्रह्मचारी हैं) । मैंने उसे मालिन रूप होकर सींचा है और उसको सींचते हुए मेरे हाथों में दाग (ठेकें) पड़ गए हैं, अर्थात् उनके हाथ जोड़ कर और अत्यन्त विनय करके ही तुम्हारे आने का विश्वास दिला कर ही मैं यहाँ आई हूँ । इसलिये हे भामिनी ! तू उठ और श्याम से चलकर मिल, क्योंकि प्रीतम और पीयूष (अथवा प्रीतम के सुधाधर) बड़े भाग से मिलते हैं ।

पा०—(१) बाल. सींचत सुहथ परे हैं दाग, (२) सु स्रम, (३) ना. प्र. उठि भेंरि परस्पर (४) बाल. अवनि दे पाग ।

* ना. प्र. ११६६-३३६० । वें. ४०३-२१ । बाल. ३८-२७ ।

अलंकार—

१. रूपकतिशयोक्ति—

'सुनि०...लाग'। इस पद में वृक्ष उपमान का ही वर्णन है नायक (कृष्ण) का नहीं।

२. वाचक लुप्तोपमा—

'ब्रज०...नाग' इसमें ब्रज-वनिता उपमेय, वारि उपमान और रोके रहत साधारण धर्म तो हैं किंतु वाचक का लोप है।

३. तुल्ययोगिता प्रथम—

'छुइ०...काग' इसमें सुक, मुनि, मर्कट, कोकिल, काग सब का साधारण धर्म 'छुइ सकत न' वर्णन किया है।

४. व्यतिरेक—

'कदंब०...लाग', कृष्ण-कदंब विटप तो हैं, पर उसमें अमृत फल लगा हुआ है यही विशेषता है (कदंब के पेड़ में फल नहीं लगते)।

५. सांग रूपक—

इसमें बाग का पूर्ण आरोप्य और आरोप्यमान वर्णन है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

(५०)

राग सारंग

राधे, यै छबि उलटि भई।
सारँग ऊपर सुंदर कदली, तापर सिंघ ठई॥
ता ऊपर द्वै हाटक बरनौं, मोहन कुंभ मई।
ता पर कमल, कमल बिच बिद्रुम, ता पर कीर लई॥
ता ऊपर द्वै मीन चपल हैं, सौतिनि साध रही।
सूरदास-प्रभु देखि अचंभौ, कहत न परत सही॥*

शब्दार्थ—मोहन = मोहने वाला। हाटक = स्वर्ण। साध = लालसा।

प्रसंग—सखी का वचन राधा से।

भावार्थ—हे राधा! तेरी यह सुंदरता (कृष्ण के बिना) कुछ विपरीत हो गई है। चरण कमल पर सुंदर कदली खंभ जैसी जंघाएँ हैं। उस पर सिंह

* ना. प्र. ११७०-३३६६। वे. ४०४-२६। सर. ११३-२३।

जैसी कटि है। उस पर मन-मोहने वाले दो स्वर्ण-कलश रूपी कुच हैं। उस पर मुख-कमल है। मुख-कमल के मध्य में विद्रुम जैसे अधर हैं। उस पर शुक जैसी नासिका है। नासिका पर मछली रूपी चंचल नेत्र हैं, जिनको देखने की इच्छा सपत्नियों को भी रहती है। श्री कृष्ण इस आश्चर्य को देखते ही रह जाते हैं। उनसे कुछ वर्णन करते नहीं बनता।

अलंकार—

रूपकातिशयोक्ति—

इसमें नायिका के नख शिख के केवल उपमान ही वर्णन किये गये हैं।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

(५१)

राग बिलावल।

जल सुत-प्रीतम-सुत-रिपु-बंधव-आयुध आनन बिलख भयौ री।
मेरु-सुता-पति बसत जु माथैं[1] कोटि प्रकास नसाय[2] गयौ री॥
मारुत-सुत-पति-अरि[3]-पुर बासी, पितु-बाहन भोजन न सुहाई।
हर-सुत बाहन असन-सनेही, मनहुँ अनल देह दौं[4] लाई॥
उदधि-सुता-पति ताकर[5] बाहन ता बाहन कैसे समुझावै[6]।
सूर स्याम मिलि[7] धर्म-सुवन-रिपु, ता अवतारहि सलिल बहावै[8]॥*

शब्दार्थ जल सुत०···आयुध=जल सुत कमल, उसका प्रीतम सूर्य, उसका पुत्र कर्ण, उसका रिपु अर्जुन, उसका भाई भीम, उसका आयुध गदा, रोग। मेरु०···माथे=मेरु-सुता पार्वती, उसका पति महादेव, उसके माथे पर जो बसता है ऐसा चंद्रमा। मारुत०···बाहन=मारुत-सुत हनुमान, उसके पति राम, उनका अरि रावण, उनका पुर वासी अगस्त, उसका पिता कुंभ वाहन पानी। हरि०··· सनेही=हर-सुत कार्तिकेय, उसका वाहन मोर, उसका असन सर्प उसका स्नेही चंदन। उदधि०···बाहन = उदधि-सुता लक्ष्मी, उनके पति विष्णु, वाहन गरुड़, उसका वाहन पक्ष। धर्म०·· अवतारहि०=धर्म-सुत युधिष्ठिर, उसका शत्रु दुर्योधन उसका अवतार अभिमान। सलिल=पानी, आँसू।

पा०—(१) वें बाल.—माथे। (२) वें बाल. रिसाय। (३) बाल. रिपु। (४) बाल. दव। (५) बाल. बाहन। (६) बाल. समझाऊँ। (७) बाल. सूरदास प्रभु। (८) बहाऊँ।

* ना.प्र. ११७१-३३६७। वें. ४०४-२८। नव. २०४-३४२, ७५७-४१५। बाल.४१-२८। रा. क. द्वि. भा. ५२७-१६। सर. ११४-२४। पो. ३२४-१०४५। का. ४०१-१७६७।

प्रसंग - दूती का वचन नायिका से ।

भावार्थ—उसका मुख बिलख-बिलख कर रोने से रोगी के समान (पीला) हो गया है, जिससे करोड़ों चंद्रमा के प्रकाश-सदृश कांति नष्ट हो गई है । उसे पानी और भोजन अच्छा नहीं लगता । चंदनादि शीतल उपचार भी देह में दावानल-सी लगा देते हैं । तुझे वह अपने पक्ष की बात किस प्रकार समझावै । तेरे मान के कारण वह आँसू बहा रहे हैं (इस से तू उनसे मिल)।

अलंकार—

१ रूपक –

जल०…भयौ । इस में आनन और आयुध का आरोप्य दिखा कर मुख-कांति की हीनता दिखाना अभिप्रेत है । अतः वाचक-धर्म-लुप्तोपमा न होकर रूपक है ।

२ वस्तूत्प्रेक्षा-उक्तास्पद—

हरि०…लाई । वायु में दावाग्नि की उत्प्रेक्षा की है । वायु और दावाग्नि दोनों ही उक्त हैं ।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती, दूती-द्वारा नायक का विरह निवेदन ।

टिप्पणि—१. बालकिशन ने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है तथा नायिका कलहांतरिता मानी है ।

अर्थ—नायिका की उक्ति अपनी सखी सों । अरी सखी जलसुत कमल प्रीतम सूर्य सुत-कर्ण रिपु अर्जुन बंधव श्रीकृष्ण आयुध सुदर्शन सो मेरे प्राणनाथ को आनन जो श्रीमुख, सो मेरे नेत्रन को बिलख भयो । फेर श्रीमुख कैसो है । सारंग पर्वत सुता पार्वती पति महादेव इनके माथे पर चंद्रमा बसत हैं । सो कोटि-कोटि चंद्रमा को प्रकास समान ऐसो जो नायक सो मोकों मनायवे को आये मैं न मान्यो । तब रिसाय गयो । उनके गये सों प्रकासता हु गई । विरह रूपी अंधेरो छाय गयो है । १ । मारुत सुत हनुमान पति श्रीराम, रिपु रावण, पुरवासी अगस्त्य, पिता ब्रह्मा बाहन हंस भोजन मोती सो मोती के आभूषन सुहात नहीं । हर सुत कार्तिक स्वामी बाहन मयूर अशन सर्प सनेही चंदन अंग को अनल समान लागत है । सर्वांग देह जरत हैं तातें दव समान कहे हैं । उदधि सुता लक्ष्मीजी पति श्रीकृष्ण बाहन गरुड़ वाको बाहन मन, मन को बाहन सर्वेंद्री सो विकल भई है । इन कों नायक बिन कैसे समझाऊँ । गरुड़ को बाहन मन यातें कहैं जो जहाँ मन के वेग के साथ गरुड़जी पहुचें ऐसो वेग है । तातें धर्म सुवन

युधिष्ठिर, रिपु दुर्योधन, याको अवतार कलि को है। सो कलि जो कलह ताकों नदी में बहाय देऊँ जा कलह तें प्रभु पधार गये हैं।

२. सूर्य का पुत्र कर्ण—महाभारत के आदि पर्व के एक सौ ग्यारहवे अध्याय में लिखा है कि यादव कुलोत्पन्न शूरसेन नामक राजा से पृथा नाम की कन्या हुई, जिसको उसके फुफेरे भाई राजा कुंतिभोज ने गोद ले लिया। बड़ी होने पर पृथा (कुंती) को आगत ब्राह्मणों का आतिथ्य सौंपा गया। एक दिन दुर्वासा ऋषि ने उसके आतिथ्य से प्रसन्न होकर उसे एक मंत्र दिया, जिसके द्वारा आपद-धर्म में किसी देवता का आवाहन कर, पुत्र प्राप्त कर सकती थी। कुंती ने मंत्र के परीक्षार्थ सूर्य का आवाहन किया, जिससे कन्या-अवस्था में ही एक पुत्र की उत्पत्ति हुई, जो आगे चलकर कर्ण कहलाया।

पाँचों पांडवों में केवल अर्जुन ही इतना वीर था, जो कर्ण के समान बलशाली था। कर्ण ने महाभारत में कुंती को वचन दिया था कि अर्जुन के अतिरिक्त वह और किसी पांडव को नहीं मारेंगे। इसी लिये अर्जुन और कर्ण आपस में शत्रु हैं।

(५२)

राग बिलावल

उठि राधे, कत रैन गँवावै।

महि-सुत-गति तजि, जल-सुत-गति तजि, सिंधु-सुता-पति-भवन न भावै॥
अलि-बाहन को प्रीतम-बाला, ता बाहन रिपु ताहि सतावै।
सो निवारि चल प्रान पियारी, धर्म-सुनहि मति भाव न भावै॥
सैल-सुता-सुत-बाहन सजनी, ता रिपु ता मुख सबद सुनावै।
सूरदास प्रभु पंथ निहारत, तोहि ऐसी हठ क्यौं बन आवै॥*

शब्दार्थ—महि-सुत-गति = महि-सुत वृक्ष, उसकी गति जड़ता। जल-सुत-गति = जल-सुत जोंक, उसकी गति खून पीना या ढिठाई (जोंक का यह स्वभाव है कि जहाँ वह चिपक जाती है, वहाँ से फिर नहीं छूटती)। सिंधु-सुता-पति = सिंधु-सुता लक्ष्मी, उसका पति विष्णु = कृष्ण। अलि०……रिपु = अलि भौरा, उसका वाहन कमल, उसका प्रीतम सिंधु, उसकी स्त्री गंगा, उसका वाहन शिव, उसका शत्रु कामदेव। निवारि = दूर कर। धर्म-सुनहि मति = धर्म से रहित बुद्धि। सैल०… सुनावै = हे सजनी! सैल-सुता पार्वती, उसका पुत्र कार्तिकेय,

* ना. प्र. ११७५–३४१४। वें. ४०६–४५। सर. ११५-२५।

उसका वाहन मोर, उसके मुख से सर्प जैसे शब्द सुना रही है, अर्थात् क्रोध से फुंकार रही है।

प्रसंग—सखी का वचन राधा से।

भावार्थ—हे राधे! उठ, तू रात क्यों खो रही है? तू यह जड़ता और ढिठाई छोड़ (अथवा खून पीने की आदत छोड़)। तेरे बिना कृष्ण को घर अच्छा नहीं लगता। उनको काम सता रहा है। इस लिये हे प्राण प्यारी! तू चल कर उसे दूर कर। तेरी यह धर्म-शून्यता अथवा अधर्मी-पन अच्छा नहीं लगता (धर्म कहता है—"परोपकाराय पुण्यानाम् पापानां परपीड़नम् परंतु तू इसके विपरीत आचरण कर रही है। इसी लिये धर्म-शून्य मति कहा है)। तू इधर क्रोध से सर्प जैसी फुंकार रही है, उधर कृष्ण तेरी राह देख रहे हैं। तुझसे यह क्यों बन पड़ रहा है।

अलंकार—

अवृत्ति-दीपक—

'महि०····तजि'। यहाँ तजि की आवृत्ति दो बार हुई है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

(५३)

राग सारंग

जनि हठि करहु, साँरग-नैनी।

साँरग ससि साँरग पर साँरग, ता साँरग पर साँरग बैनी॥

साँरग रसन दसन पुनि[1] साँरग, साँरग-सुत दृग निरखति पैनी।

साँरग कहौ सु क्यौं न बिचारौ, साँरग-पति साँरग रचि सैनी॥

साँरग सदनहिं लै जु बरुनि गई, अजहुँ न मानत गत भई रैनी।

सूरदास प्रभु तुव मग जोवैं, अधंक-रिपु ता रिपु सुख दैनी॥*

शब्दार्थ—साँरग = खंजन अथवा मृग। साँरग = कमल। ससि = नख-चंद्र। साँरग = हाथी। साँरग = चक्रवाक। साँरग = कोयल। बैनी = वचनों वाली। साँरग = अमृत। साँरग = बिजली। साँरग-सुत = मृग-छौना अथवा साँरग, बाण उसका पुत्र अनी। साँरग = सरस, मधुर। सैनी = शय्या।

पा०—(१) ना. प्र. गुनि।

* ना. प्र. ११७६-३४१६। वें. ४०६-४७। सर. ११६-२६।

सारँग = चंद्रमा। अंधक०···रिपु = अंधक राक्षस, उसका शत्रु महादेव, उनका शत्रु कामदेव।

प्रसंग—सखी का बचन नायिका से।

भावार्थ—हे खंजन (या मृग) नैनी! तुम हठ मत करौ, तुम्हारे कमल जैसे चरण, उन पर नख-चंद्र, उन पर हाथी की सूंड जैसी जंघा, उस पर सिंह जैसी कटि, चक्रवाक जैसे कुच और उस पर कोयल जैसी वाणी है। तुम्हारी रसना अमृतमय है। दाँत विद्युत जैसे और नेत्र मृग-छौना जैसे (अथवा बाण की अनी जैसे पैने) हैं। मैंने तुमसे सरस बात कही है, उस पर तुम क्यौं नहीं विचार करती हो। श्री कृष्ण ने तुम्हारे लिये कमल-शय्या तैय्यार कर ली है। पच्छिम दिशा चंद्रमा को ले गई है, अर्थात् पच्छिम दिशा रूपी नारि अपने पति को साथ ले गई है और तू यहाँ अकेली बैठी है। रात्रि बीती जा रही है और तू नहीं मानती। श्री कृष्ण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि काम में तुम्हीं उनको सुख देने वाली हो।

अलंकार—

१. यमक—

'सारँग' शब्द अनेक आवृत्ति में अनेकार्थ में प्रयुक्त होने से

२. रूपक—

सारँग-रसन, सारँग-दसन में।

३. वाचक लुप्तोपमा—

सारँग०······पैनी।

यहाँ सारँग-सुत उपमान, दृग उपमेय, पैनी साधारण धर्म तो है, किंतु वाचक का लोप है।

४ रूपकातिशयोक्ति—

सारँग० ······बैनी।

इसमें केवल उपमानों का ही वर्णन है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

टिप्पणी—

१. यहाँ सखी का 'सारँग' शब्द से यह भी अभिप्राय है कि जब सभी ठाठ सरस है, तब तुम्ही नीरस क्यौं हो रही हो? तुम भी अपना मान छोड़ कर

कृष्ण के पास क्यों नहीं चलती, जहाँ पुष्प-शय्या रच कर वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं और तुम अपने सारँग नाम को क्यों नहीं सार्थक करती।

२. सैनी—

यद्यपि शय्या और पलंग, आदि का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है, किंतु इन दोनों में भेद है। संस्कृत में शय्या का अर्थ बिछौना है। खाट की भाँति शय्या के भी अनेक भेद हो गए हैं। हंस के उदर पर उगने वाले कोमल परों के गुच्छे और कोमल चर्म-तंतुओं द्वारा जो शय्या तैय्यार की जाती है, वह 'हंसी' कहलाती है। इसी तरह सेमर की रुई वस्त्र में भर कर बनाई जाने वाली शय्या 'शाल्मली-तूलिका', बिनोला-रहित रुई से भरी 'कापसिजा' कहलाती है। कमल, नाग-पुष्प या सुगंधित पुष्प के मध्यवर्ती कोमल केसर के रेशों को विविध रंगों से विचित्र रेशमी वस्त्र में भर कर 'केशरजा' शय्या बनाई जाती है। कोमल उत्पल, कल्हाद, कदली, कंकली आदि कोमल पत्तों से बनाई हुई शीतल शय्या का नाम 'पल्लवा' है। मालती, गुलाब, चमेली, चम्पा आदि सुगंधित पुष्पों से बनी शय्या 'कुसुमजा' कही जाती है। चमड़े के शय्याकार मढ़े हुए थैले में जल भर कर बनी हुई शय्या 'तोया' कहलाती है।

विभिन्न ऋतुओं के अनुसार उनका प्रयोग—

वसंत—हंसी। ग्रीष्म, मध्याह्न के अतिरिक्त अन्य समय शाल्मली तूलजा, मध्याह्न में तोया। वर्षा, हेमंत और शिशिर ऋतु में कापसिजा तथा शरद-काल में दोला मंच पर केशरजा की शय्या। पल्लवा और कुसुमजा शय्या काम-क्रीड़ा के लिए उपयुक्त होती है। (किताबी कीड़ा)

सूरदास ने राधा कृष्ण-केलि के अनेक पदों में इसी 'कुसुमजा शय्या' का वर्णन किया है।

(५४)

राग मलार

सखी री, हरि-बिनु है दुख भारी।

सिंघका-सुत[1] हर-भूषन ग्रसि ज्यौं, सोई गति भई हमारी॥

सिखर-बंधु अरि क्यौं न निवारत, पुहुप-धनुष कै बिसेष।

चच्छुस्रवा उर-हार ग्रसी ज्यौं, छिनु दुतिया बपु रेख॥

पा०—(१) सर. सिंह को सुत।

घट-सुत-असन समय-सुत आनन, अभी गलित जैसें मेत ।
जलधर ब्यौम अंबु-कन मुंचत, नैन होड़ बदि लेत ॥
जदुपति प्रभु मिलि आन मिलावहु, हरि-सुत आरत जानि ।
जैसें हरि करि बंधु प्रघट भए, तैसइ आरत मानि ॥
षट-आनन-बाहन कानन में, घन रजनी तँह बासी ।
सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि, सुनि चातक पिक त्रासी ॥*

शब्दार्थ—सिंघका-सुत=राहू । हर-भूषन=चंद्रमा । सिखर अरि=सिखर कैलाश, बंधु शिव, अरि कामदेव । निवारत-रोकता है । विसेष-ज्यादती चच्छुस्रवा=सर्प । छिनु=क्षीण । बपु-देह । घट-०सुत···सुत=घट-सुत अगस्त, उसका भोजन समुद्र, उसका पुत्र चंद्रमा । गलित=च्युत । मेत=मेद, चरबी । अंबुकन=मेह । मुंचति=छोड़ते हैं ।

प्रसंग—वियोगिनी नायिका का वचन सखी से ।

भावार्थ—हे सखी ! श्रीकृष्ण के बिना मुझको बड़ा दुःख है । जिस प्रकार राहु चंद्रमा को ग्रस लेता है, उसी प्रकार हमारी गति हो गई है । (फिर ऐसे समय में) शिवजी अपने शत्रु काम को क्यों नहीं रोकते, जो अपने पुष्प-धनुष को लेकर हम पर ज्यादती कर रहा है । हमारे हृदय का हार सर्प, देह दुतिया के चन्द्रमा के समान क्षीण और मुख अमृत रहित चंद्रमा के समान होकर चरबी जैसा श्वेत हो गया है । हमारे नेत्रों ने मेह बरसते हुए बादलों से होड़ बद ली है, अर्थात् जिस प्रकार आकाश के मेघ पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार हमारे नेत्र भी निरंतर आँसू बहाते रहते हैं । काम से पीड़ित जानकर मुझे कृष्ण से मिला दो । हे चतुर शिरोमणी ! आप जिस प्रकार हाथी के बंधु रूप में प्रकट हुए थे, उसी प्रकार हमको भी दुखी समझ कर उस बन में, जहाँ मोर बोलते हैं, रात्रि में बादल छाये हुये हैं तथा चातक और कोयल अपनी वाणी से दुख देते हैं, हम से मिलकर हमारा दुख दूर करो ।

अलंकार—

१. उदाहरण

सिंघका०···हमारी ।

अपनी गति समझाने के लिए राहु-ग्रसित चंद्रमा का नमूना दिया गया है ।

---

* ना. प्र १३५७-३८४० । सर. १२३-३५ ।

लक्षण—

सामान्य से निरूपित अर्थ को भलीभाँति समझाने के लिए उसका एक देश (विशेष रू।) दिखाया जाय उसे उदाहरण कहते हैं।

(काव्य-कल्पद्रुम)

२. प्रथम प्रतीप—

'जलधर०···बदि लेत'। यहाँ नैन जो उपमेय हैं सो 'जलधर···अंबुकन' के उपमान हो गए।

लक्षण—सो प्रतीप उपमेय सम, जब कहिये उपमान।
लोचन से अंबुज बने, मुख सौ चंद बखान।

३. पूर्णोपमा—

'चच्छुस्रवा०···ज्यौं'। इसमें चच्छुश्रवा उपमान, उर-हार उपमेय, असित साधारण धर्म और ज्यौं वाचक है।

४ दृष्टांत—

जदुपति०······ जानि।
जैसैं०······मानि।

यहाँ उपमा और उपमेय में बिंब-प्रतिबिंब भाव होने से दृष्टांत अलंकार है।

रस—शृंगार रस, विरह वर्णन।

टिप्पणी—'जलधर०·· लेत' इस पर 'नारायण कवि' ने भी बहुत सुदर रचना की है।

सो०—आँगन बरसै मेह, नैना बरसैं रात दिन।
उत सावन इत नेह, होड़ा होड़ी झर लगी॥

❀

"पैज करि पातकी पपीहा प्रान पीएँ लेति,
पिउ-पिउ कहिकैं पुकारै दिन रात मैं।
घोर घन घटा बिरहीन कौं सतायौ करै,
तिरछी तरवार बिज्जु छटा छहरात मैं॥
तीर सौ समीर तन चीर कैं निकारै जीउ,
'नारायन' कब लौं रहौंगी तरसात मैं।
इतनी पथिक जाइ कहियौ पिया तैं वहाँ,
आँखैं बरसात हो रहैंगी बरसात मैं॥

(५५)

राग सारंग

कहँ लौं राखिय मन बिरमाई।

इक टक सिव धर नैन न लागत, स्याम-सुता-सुत-धनि चलि आई॥
हर-बाहन दिवि-बास-सहोदर, तिहि पति उदित मुरछि महि जाई।
गिरजा-पति[1]-रिपु नख-सिख ब्यापत, बसत सुधा-प्रिय कथा सुनाई॥
बिरहिनि बिरह आप बस कीन्हीं, लेहु कमल जिमि पाँइ छुवाई।
बेगहि मिलौ सूर के स्वामी, उदधि-सुता[2]-पति मिलि है आई॥*

शब्दार्थ—**बिरमाई**=धोके में रखिये। **सिवधर**=पहाड़। **स्याम···धनि**= श्याम-सुता रति, उसका पुत्र अनिरुद्ध, उसकी स्त्री उषा। **हर···सहोदर**=हर महादेव, उसका वाहन बैल, गो=पक्षी, दिवबास स्वर्ग-वासी पक्षी गरुड़, उसका भाई अरुण। **गिरजा-पति-रिपु**=कामदेव **सुधा-प्रिय**=पपीहा। **उदधि-सुता**=सीपी। **उदधि-सुता-पति**=मेघ।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

भावार्थ—मन को धोखा देकर भी कहाँ तक रखा जाय। वह एक टक देखती रहती है (तुम्हारी प्रतीक्षा में वह दरवाजे की ओर बराबर देखती रहती है, इससे) पलक पहाड़ से हो गये हैं और रात को नींद भी नहीं आती। यहाँ तक कि आकाश में उषा का प्रकाश हो गया। अरुणोदय होते ही वह भूमि पर गिर पड़ी है, उसकी समस्त देह में काम व्याप्त है और पपीहा का पिउ शब्द सुनकर ही वह जीवित है, अर्थात् पपीहा का पिउ शब्द सुनकर उसे तुम्हारे आने की आशा होती है। उस वियोगिनी को विरह ने अपने वश में कर लिया है (सोई आप चल कर) कमल के समान अपने पैरों से लगा लीजिए, अर्थात् जिस प्रकार आपके चरण कमलों में कमल साथ ही लगे रहते हैं, उसी प्रकार आप उसे भी अपने चरणों में स्थान दीजिये। हे श्याम! जिस प्रकार चातक और सीपी के लिये स्वाँति का मेघ मिल जाता है, उसी प्रकार आप भी उसको शीघ्र मिलो। (इस पद में सुधा-प्रिय, उदधि-तनया शब्द साभिप्राय

पा०—(१) ना. प्र. प्रति। (२) सर. तनया।

* ना. प्र. ११७४-३६००। सर. १२४-३६। वें. ४६२-५।

हैं। सखी का कहना है जिस प्रकार चातक और सीपी को केवल स्वाँति-बूँद का ही सहारा है उसी प्रकार नायिका को आप का ही आधार है)।

अलंकार—

१. परिकरांकुर—

सुधा-प्रिय, उदधि-तनया दोनों विशेष्य साभिप्राय हैं।

२. पूर्णोपमा—

'लेहु०···छुवाई।' इसमें उपमा, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक चारों हैं। इसलिए पूर्णोपमा है।

३. दृष्टांत—

'बेगहि मिलौ०···आई'। यहाँ उपमा उपमेय बिंब-प्रतिबिंब भाव से हैं।

रस—शृंगार रस, सखी-द्वारा विरह निवेदन।

(५६)

राग सारंग

माधौ, बिलमि बिदेस रहे।
अमरराज-सुत नाम रैन-दिन, चितवत नीर बहे॥
मारुत-सुत-पति नंद-गेह तजि, हरि-भख बचन कहे।
जल-रितु-नाम जान अब लागी, काके नेह नहे॥
कुंती-पति-पितु तासु नारि-घर ता अरि अंग दहे।
घट-सुत-रिपु-तनया-पति सजनी, उर अति कपट गहे॥
सैल-सुता-पति ता सुत-बाहन-बोल न जात सहे।
सूरदास यह बिपति स्याम सौं, को समुझाइ कहे॥*

शब्दार्थ—**अमरराज···दिन** = अमरराज इंद्र, सुत जयंत, उसका दिन-रात का नाम काग। **मारुत०···पति** = मारुत पवन, पुत्र हनुमान, पति राम = कृष्ण। **नंद-गेह** = नंद-गृह। **हरि-भख** = माँस, मास। **जल-रितु-नाम** = वर्षा। **कुंती०··· अरि** = कुंती-पति पांडु, पिता शान्तनु, नारि गंगा + धर = गंगाधर, महादेव शत्रु, कामदेव। **घट-सुत०···पति** = घट सुत अगस्त्य, रिपु समुद्र, तनया लक्ष्मी, पति विष्णु = कृष्ण। **सैल०·· बोल** = सैल-सुता पार्वती, पति महादेव, सुत कार्तिकेय, वाहन मोर।

---

* ना. प्र. ११७४–३६०१।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—कृष्ण परदेस में रम रहे हैं। काग को देख कर आँखों में आँसू बहने लगते है। उसे देख कर यह प्रतीत होता है कि यह कृष्ण के आने की सुगनौती करेगा, किंतु ऐसा नहीं होता। इससे हमारे आँसू बहने लगते हैं। उन्होंने (कृष्ण ने) नंद-गृह छोड़ने के समय प्रतिज्ञा की थी कि वह एक महीने में पीछे आ जावेंगे (परतु, वह नहीं आये)। अब वर्षा आरंभ हो रही है। हम किसके नेह से जीवित रहें। हे सजनी! कृष्ण ने हमसे अपने हृदय में कपट रखा (कि हमसे असत्य बोल कर, बातें बना कर चले गये)। अब हमसे मोर का शब्द नहीं सहा जाता। ऐसा कौन है, जो हमारी विपत्ति को श्याम से समझा कर कहे?

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(५७)

राग सारंग

प्रीत करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीत पतंग करी दीपक[1] सौं, आपै प्रान दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीत करी जल-सुत सौं, संपुट माँझ[2] गह्यौ।
सारँग प्रीत करी जु नाद सौं, सनमुख बान सह्यौ॥
हम जो प्रीत करी माधौ सौं, चलत न कछू कह्यौ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख पावत[3], नैनन नीर बह्यौ॥*

शब्दार्थ—अलि-सुत = भौंरा। जल-सुत = कमल। संपुट = फूल में पंखड़ियों के बीच की जगह, कोष। सारँग-मृग।

प्रसंग—गोपियों का वचन उद्धव से।

भावार्थ—प्रेम करके किसी ने भी सुख नही पाया। पतंग ने दीपक से प्रेम करके अपने प्राणों की आहुति दे दी, भ्रमर कमल से प्रीत कर कमल-कोष में पकडा गया, मृग ने नाद से प्रेम करके हृदय पर बाण का प्रहार सहा और हमने श्री कृष्ण से प्रेम किया, सो वह भी बिना कुछ कहे चले गये। इससे अब हम उनके दर्शन बिना दुख पा रही हैं, और हमारे नेत्रों से आँसू बह रहे हैं।

पा०—(१) ना प्र पावक। (२) सर हाथ। (३) वेखे दुख।

*ना. प्र १३७६–३६०६। वे. ४९२–६। सर. १२५–३७।

अलंकार—

१, उदाहरण —

'प्रीत कर काहू सुख न लह्यौ ।' इसमें पद में इसके नीचे की तीन पंक्तियों-द्वारा तीन उदाहरण दिये गये हैं।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका ।

(५८)

राग मलार

हरि-सुत पावस[1] प्रघट भयौ री ।
मारुत-सुत-बंधु-पितु-प्रोहित, ता प्रतिपालन छाँड़ि गयौ री ॥
हरि-सुत-बाहन-असन-सनेही, सो लागत अँग अनल भयौ री ।
मृग-मद स्वाद[2] मोद[3] नहिं भावत, दधि-सुत भानु समान भयौ री ॥
बारिज-सुत-पति[4] क्रोध कियौ सखि, मेंटि सकार[5] दकार दयौ री ।
सूरदास बिनु सिंधु-सुधा-पति, कोपि समर कर चाप लयौ री ॥*

शब्दार्थ—हरि-सुत=कामदेव । मारुत०...प्रोहित=मारुत-सुत भीम, बंधु, अर्जुन, पिता इंद्र, प्रोहित बृहस्पति=जीव । हर०...सनेही=हर महादेव, पुत्र कार्तिकेय, वाहन मोर, असन सर्प, स्नेह की वस्तु चंदन। अनल=अग्नि । मृग-मद=कस्तूरी। मोद=आनंद। दधि-सुत=चंद्रमा । बारिज-सुत-पति=वारिज कमल, सुत ब्रह्मा, पति कृष्ण । मेंटि०....दयौ....री=सुख का सकार मेट कर दकार, अर्थात् दुख दे दिया । सिंधु-सुता-पति=कृष्ण । समर–कामदेव ।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से ।

भावार्थ—हे सखी ! वर्षा-काल में काम उत्पन्न हुआ है । (ऐसे समय में श्री कृष्ण तो चले गये और) हमको जीव प्रतिपालन करने को छोड़ गये (इसका आशय यह है कि हम किसी भाँति जीवित हैं)। चंदन का लेप हमारी देह में अग्नि के समान दाहक लग रहा है। कस्तूरी (सुगंधित पदार्थ), स्वाद (षट रस, व्यंजनादि) और किसी भी भाँति का आमोद-प्रमोद या विलास-सामग्री

पा०—(१) वें. पावक। बाल. हर रिपु पावक । (२) ना. प्र. मृग-मद-स्वाद । (३) बाल. मोहि (४) प्रति । (५) मेटि सुकार कुकार दयो री ।

* ना. प्र. १३८६-३६३७ । वें. ४६५-३१ । नव. २०४, ३४३, ७५७-४१३ । रा. क. द्वि. भा. ५२७- २० । सर. १२५-३८ । दि. १८३-६४१ । कां. ४३२-१८७५ । बाल. ५८-४६ ।

अच्छी नहीं लगती और चंद्रमा सूर्य के समान ताप देने वाला बन गया है। हे सखी! श्रीकृष्ण हमसे क्रोधित हैं, तभी तो उन्होंने हमारा सुख नष्ट करके हमें दुख दिया है। कृष्ण के बिना (हमको निर्बल समझकर) कामदेव ने भी क्रोध कर धनुष हाथ में ले लिया है।

अलंकार—

१. धर्मलुप्तोपमा—

दधि-सुत भानु समान भयौ री।

इसमें उपमान भानु, दधि-सुत उपमेय, समान वाचक तो है, किंतु साधारण धर्म का लोप है।

२. पाँचवीं विभावना—

हर०....भयौ री।

यहाँ शीतल चंदन का अग्नि के समान दाहक लगना वर्णन किया गया है, इसलिए पाँचवीं विभावना हुई।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(५६)

राग सारंग

हर कौ तिलक, हरि बिनु दहत।
वै कहियत[१] उड़राज अमृतमय, तजि सुभाव सो[२] मोहि निबहत॥
कत रथ थकित भयौ पच्छिम दिसि, राहु[३]-गहनि लौं मोहि गहत।
छपौ[४] न छीन होत सुन सजनी, भूमि-भवन-रिपु कहाँ रहत[५]॥
[६]सीतल सिंधु जनम जा केरौ, तरनि तेज होइ कह धौं चहत।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु प्रान तजत यै नाहिं सहत॥*

शब्दार्थ—हर कौ तिलक = चंद्रमा। उड़राज = चंद्रमा। निबहत = निबटना। गहनि = ग्रहण। छपौ = छपा रात्रि भी। भूमि-भवन-रिपु = भूमि ही है भवन जिनका ऐसे कीड़े-मकोड़े, उनका शत्रु मुर्गा। तरनि = सूर्य।

पा०—(१) वे. कहति, (२) बह निबहत, (३) ग्रह ग्रसित जैसे गुहन गहत, (४) छबि, (५) बसत (६) जाकौं ध्यान धरत हौं दधि सुत मनि महेस जैसे रहन रहत।

* ना. प्र. १३६६–३६७२। वें. ४६८-५८। वें. प्रे. ६६३-५८। सर. १२६-३६। बाल. ३२-२३।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में चंद्रमा मुझे जला रहा है, वे (सब लोग) चंद्रमा को सुधाकर कहते हैं, फिर यह मुझे (जीवन दान न देकर) क्यों मार रहा है। क्या पश्चिम दिशा में जाकर उसका रथ थक गया है (जिससे रात्रि व्यतीत नहीं होती)? जिस प्रकार राहु इसको ग्रस लेता है, उसी प्रकार यह मुझे भी ग्रस रहा है (चंद्रमा के रथ के रुक जाने से) रात्रि भी व्यतीत नहीं होती, मुर्गे भी अभी नहीं बोलते, जानें वे कहाँ जा छिपे हैं। चंद्रमा, जिसकी उत्पत्ति शीतल समुद्र से है, फिर भी सूर्य के समान उष्ण होकर न जाने यह मुझसे क्या चाहता है? हे प्रभु! तुम्हारे वियोग में यह प्राण भी मुझे छोड़ रहे हैं। इनसे अब नहीं सहा जाता।

अलंकार—

१. **पांचवीं विभावना।**

(अ) वै०····निबहत।

(क) सीतल०····चहत।

यहाँ औरों के लिये चंद्रमा का अमृतमय होने तथा नायिका के लिये सुभाव तज कर विपरीत लगने से ही पाँचवीं विभावना है।

२. पूर्णोपमा—

'राहु गहनि लौं मोहि गहत'। इसमें राहु-ग्रहण उपमान, मोहि उपमेय, लौं वाचक, गहत साधारण धर्म।

रस = शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(६०)

राग सारंग

बैसी, सारँग करहिं लिएँ।

सारँग कहत सुनत वे सारँग, सारँग मनहिं दिएँ॥

सारँग थकित[1] बैठि वह सारँग, सारँग बिकल हिएँ।

सारँग धुकि सारँग पर सारँग, सारँग क्रोध किएँ॥

सारँग है भुज करनि बिराजति, सारँग रूप बिएँ[2]।

सूरदास मिलिहैं वे सारँग, तौ पै[3] सुफल जिएँ॥*

पा०—(१) वें. पथिक। (२) किये। (३) पर।

* ना. प्र. १३६६-३६८३। वें. ४६६-६७। पो. ११-२६४।

शब्दार्थ—सारँग = चंद्रमा। सारँग = मेघ (घनश्याम)। सारँग = घनश्याम (श्री कृष्ण)। सारँग = श्रीकृष्ण। सारँग = कामदेव। सारँग = स्त्री। सारँग = आकाश। धुकि = झूमते हुए। सारँग = दिन-रात, समुद्र। सारँग = आभूषण। बिएँ = दूसरे।

प्रसंग – सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—वह (नायिका) हाथ पर मुख-चंद्र को रखे हुए बैठी है। यदि कोई घनश्याम (मेघ) कहता है, तो वह घनश्याम (श्री कृष्ण) समझती है, क्योंकि उसका मन श्री कृष्ण में लगा हुआ है। वह नारी काम से हार मान बैठी है, उसका हृदय दिन-रात व्याकुल रहता है, अथवा उसके हृदय में समुद्र के से तूफान उठते रहते हैं। आकाश में झूमते हुए बादल पर बादल चले आ रहे हैं (परंतु) श्रीकृष्ण हमसे क्रोधित हैं (आशय यह है कि पहिले जब इंद्र ने कोप करके वर्षा की थी, तब श्री कृष्ण ने रक्षा की थी, किंतु अब भी वर्षा उसे उसी प्रकार दुख दे रही है, किंतु वह नहीं आते। इससे प्रतीत होता है कि वह हमसे क्रोधित हैं)। जो आभूषण उसके हाथ और भुजाओं में हैं, वे उसे सर्प जैसे मालूम हो रहे हैं। वे कृष्ण जब उससे मिलेंगे तभी उसका जीवन सफल होगा।

अलंकार—

१. यमक—

सारंग शब्द की अनेक आवृत्ति अनेक अर्थ में होने से।

२. सम तद्रूप रूपक—

सारँग०……बिए।

लक्षण—

उपमेय को प्रसिद्ध उपमान से भिन्न, पर उसका (उपमान) रूप और उसका कार्य करने वाला वर्णन किया जाय उसे तद्रूप रूपक कहते हैं।

(काव्य-कल्पद्रुम)

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(६१)

राग सारंग

गौरि-पूत-रिपु ता सुत आए[१], प्रीतम ताहि निनारे।
सिव-बिरंचि जाके दोउ बाहन, तिनि हरे प्रान हमारे॥

पा०—(१) ना. प्र. आयुध।

मोहि बरजत उठि गवन कियौ हठि[1], स्वाद-लुब्ध रस आल[2]।
कुंती नंद-तात-मुख जोवत. अरु बारति अतिचाल[3] ॥
उगवै सूर छूटै वे[4] बंधन, तौ बिरहनि रति मानैं।
इहिं बिधि मिलैं सूर के स्वामी, चतुर होय सो जानैं ॥*

शब्दार्थ—गौरि०……सुत=गौरी पार्वती, सुत कार्तिकेय, रिपु तारक=तारा, पुत्र बुध। आल=प्याज का डंठल। कुंती० तात=कुंती-नंद (नंदन) कर्ण, भाई यमराज, अथवा कुंती-नंद युधिष्ठिर, तात, अर्थात् पिता धर्मराज-यमराज, मृत्यु। बारति=आग लगाती हूँ, निंदा करती हूँ। अतिचाल=अतिचार, जब एक ग्रह किसी राशि का भोग-काल समाप्त किये बिना दूसरी राशि में चला जाता है तब उसे 'अतिचार' कहते हैं।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—हमारे प्रीतम ने बुद्धि आने पर भी उसका त्याग कर दिया, अर्थात् कुबुद्धि ग्रहण कर हमारे यहाँ से चले गये। (इस पर) उसी कामदेव ने जिसके शिव और ब्रह्मा जैसे वाहन हैं, अर्थात् उनको भी जैसे चाहता है चलाता है, हमारे प्राण ले लिये (हमको प्राणांतक दुःख दे रहा है)। वह मुझको हटकते हुए और प्याज के डंठल के रस पर मुग्ध होकर जिद करके उठ कर चले गये। इसी लिये अब मैं अतिचार की निंदा करती हुई मृत्यु की बाट देख रही हूँ (यहाँ अतिचार कहने का तात्पर्य यह है कि यह तो मेरा भोगकाल था, उसको बिना समाप्त किए हुए दूसरी नायिका के पास क्यों चला गया, अथवा जब ईश्वरीय विधान में भी ऐसा होता रहता है कि वहाँ भी एक ग्रह समय के पूर्व ही एक राशि को बिना पूर्ण काल तक भोगे हुए दूसरी राशि में चला जाता है तो साधारण जीव की तो बात ही क्या है, मैं इसकी निंदा करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकती हूँ)। सूर्योदय हो और वे बंधन मुक्त हों (वह भ्रमर जिसको कमल ने अपने कोष में बाँध रखा है और भौंरी उसकी मुक्ति की आशा में रात भर बैठी रही है, वह सूर्योदय होने और कमल के विकसित होने पर ही भौंरी से मिल सकता है, अर्थात् सूर्योदय होने और सपत्नी

पा०—(१) ना. प्र. उठि। (२) वे. स्वादे लुबध रसाल। (३) ना. प्र. वें. अति चाल (४) ना. प्र, पसु।

* ना. प्र. १४०१-३९९० । वें. ४६९-७४।

के प्रसन्नता पूर्वक छोड़ने पर ही घर आ सकता है) तभी विरहणी को आनंद होगा। इस भेद को (कि श्रीकृष्ण उससे किस प्रकार मिलेंगे) वही जान सकता है जो चतुर होगा।

अलंकार—

लोकोक्ति—

'स्वाद लुब्ध रस आल'। प्याज के छिलके पर मुसलमान होना, यह एक लोकोक्ति है।

रस—शृंगार रस, नायिका विरहणी, विरह वर्णन।

टिप्पणी—

(१) 'उगवै०·····मानै'

उपरोक्त भाव, निम्नलिखित संस्कृत के श्लोक के पूर्वार्द्ध से लिया गया है।

> रात्रिर्गमिष्यति भवष्यति सु प्रभातं,
> भास्वानुदेष्यति हसष्यति पकंज श्री।
> इत्थं विचिन्तयति कोष गते द्विरेफे,
> हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार॥

किंतु नायिका को कमलिनी (कमल) का हाथी-द्वारा खा जाना अभिप्रेत नहीं, इसी लिए उसकी मुक्ति की ही इच्छा रखती है।

(२) 'मोहि०···आल'। यहाँ प्याज के डंठल का रस कहने का पहिला तात्पर्य तो यह है कि जिस प्रकार प्याज मुँह लग जाने पर मनुष्य उसे नहीं छोड़ सकता, उस प्रकार वह जानती है कि वह अपनी आदत से लाचार होकर, उसे नहीं छोड़ सकता। दूसरे नायिका नायक के इस स्वभाव को छिछोरापन समझती है कि प्याज के रस (निम्न जाति अथवा कोटि की नायिका, अथवा सौतिया-डाह से प्रयुक्त शब्द) पर मुसलमान हो जाय, किंतु आज से तो वह और भी गई बीती वस्तु दीखती है कि प्याज नहीं उसका डंठल मात्र ही है।

(६२)

राग कान्हरौ

सोचति राधा लिखत नखन मैं, बचन न कहत, कंठ-जल त्रास।
छिति पर कमल, कमल पर कदली, तापर पकंज कियौ प्रकास॥

तापरि अलि सारँग सारँग-पति[1], सारँग-रिपु लै कीन्हौं बास।
तहाँ अरि-पंथ पिता जुग उदित, बारिज बिबध रंग भयौ अभास॥
सारँग-मुख ते परत अंबु ढरि, मनु सिव पूजत तपति बिनास॥
सूरदास प्रभु हरि बिरहा-रिपु, दाहत अंग दिखावत बास॥*

शब्दार्थ—कंठ-जल त्रास=गला सूख गया है। छिति=पृथ्वी। पकंज=कमल, उदर। अलि=भ्रमर जैसी रोमराजी। सारँग=कमल जैसे हृदय और हाथ। सारँग-पति=निशा का स्वामी चंद्रमा, ऐसा मुख-चंद्र। सारँग-रिपु=कमल की शत्रु रात्रि जैसे केश। अरि-पंथ पिता=पथ की शत्रु नदी, यमुना जी, उनके पिता सूर्य जैसे कर्णफूल। सारंग=सरस अंबु=जल, आँसू।

प्रसंग—राधा की विरहावस्था का वर्णन। राधा ध्यानावस्था में बैठी नख-रेखाओं द्वारा कृष्ण का चित्र चित्रित कर रही है, उसी का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कहती है।

भावार्थ—राधा ध्यानावस्था में बैठी हुई नखों से (श्रीकृष्ण का चित्र) लिख रही है। उसका गला सूख गया है। मुख से वचन नहीं निकल रहे। (पृथ्वी पर पहिले) उसने चरण कमल बनाये उस पर कदली जैसी जंघाओं की रचना की। फिर उस पर उदर, उदर पर भ्रमर जैसी रोमराजी, हृदय और हाथों की रचना की। उस पर मुख-चंद्र और केशों कौ बनाया। उसी स्थान पर (अर्थात् मुख और केशों के समीप) सूर्य जैसे दो कर्णफूल बनाए। इन कमलों में उसे विविध रंगों का बोध होने लगा, अर्थात् कृष्ण का पूरा चित्र उसकी आँखों के आगे आ गया, जिससे उसके सुन्दर मुख से आँसू बह-बहकर (कुचों पर इस प्रकार) पड़ने लगे, मानों विरह की तपन बुझाने को शिव का पूजन कर रही हो। श्रीकृष्ण हरि, अर्थात् दुखों को हरण करनेवाले तथा विरह के शत्रु भी थे, अर्थात् उनके पास रहने पर विरह होता ही नहीं था, किंतु अब वे हृदय में रहकर भी शरीर को जला रहे हैं (पास रहने से तो हृदय में रहना और भी समीप है, फिर वहाँ उनका रहना, अर्थात् प्रत्येक समय ध्यान में आना दुखदाई क्यों)।

पा०—(१) वें. सारँग पर सारंग प्रति।

* ना. प्र. १४१०-४०२४। वें. ४५३-२३। नव. २०५-३४८, ७७४-१४६। सर. १२२-३४। पो. ४१६-१६५७। चु. १०५-४४७।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

'कमल०···'प्रकास'। इसमें कमल, कदली, पंकज आदि उपमानों का ही वर्णन है।

२. यमक—

'सारँग' शब्द का अनेक बार अनेक अर्थों में प्रयोग होने से।

३. हेतूत्प्रेक्षा-असिद्धास्पद—

सारँग०···बिनास। यहाँ कुचों पर आँसू पड़ना दुखों का हेतु है, न कि शिव-पूजन। फिर भी अहेतु को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा हुई, किंतु यह हेतु असिद्ध है, इसलिए असिद्धास्पद हुई।

४. परिकरांकुर—

'हरि० ··बास।' यहाँ हरि शब्द साभिप्राय विशेष्य है। इसलिए परिकरांकुर अलंकार हुआ।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

टिप्पणी—१ सरदार कविने इस पद का अर्थ इस प्रकार किया है—

'सखी की उक्ति नायक के प्रति' कि राधा आज शोचित नखतें भूमि खनत है। कण्ठ गद्-गद् ह्वै गयो है। बात नही कहत अचल हो रही है। क्षिति पर कमल पद ता पर कदली जंघा कज उरोज तापर अलि श्यामता तापर सारंग कपोत कंठ तापर सारंग कमल मुख तापर सारंग रात्रि ताको रिपु दुपहरिया को फूल ताके ऊपर पंथ अरि यमुना अलक तापै यमुना के पिता सूर्य सो ताटंक तापर वारिज विवश कपोत और सारंग खजरीट नेत्र तिनते जल गिरै है सो मानों ताप दूर करिवे को शिव ऊपर ढारै हैं सूरदास प्रभु हरि हे विरह के रिपु! बास जो निवास सो अंग को दाहै है।"

२. इसी भाव से मिलता हुआ एक पद सूरदास ने और भी कहा है—

मैं, सब लिखि सोभा जु बनाई।
सजल जलद तन, बसन कनक रुचि, उर बहु दाम सुराई॥
उनत कंध, कटि खीन, बिसद भुज, अँग-अँग प्रति सुखदाई।
सुभग कपोल, नासिका, नैन छबि, अलक लिखित धृत पाई॥
जानति ही यह लोल लेख करि, ऐसैंहिं दिन बिरमाई।
सूरदास प्रभु बचन सुनन कौ, अति आतुर अकुलाई॥

३—विरहावस्था में प्रियतमा के चित्र लिखने का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी मेघदूत में किया है, किंतु पहाड पर पथरीला स्थान होने के कारण नायक अपनी नायिका का चित्र पृथ्वी पर नखों द्वारा चित्रित करने में असमर्थ होने से गेरू को लेकर लिख रहा है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै शिलाया—
मात्मान तें चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यतेमे—
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सगम तौ कृतान्त ॥

४—"सारग बिनास"—

छाती पर आँसू गिरने का वर्णन अमरु शतक में भी आया है, किंतु सूरदास की तुलना मे वह बिल्कुल हेय है—

तप्ते महाविरहवह्निशिखावलाभि—
रापाण्डुरस्तनतटे हृदये प्रियाया ।
मनमागवीक्षणनिवेशितदीनदृष्टे—
नून छमच्छमिति वाष्पकणापतन्ति ।

बिहारी ने इसी भाव को इस भाँति कहा है—

पलनि प्रघटि बरुनीनि बढ़ि, नहि कपोल ठहराँय ।
अँसुआ परि छतियाँ छनक, छन छनाय छिप जाँय ॥

(६३)

राग सारग

हरि मोकौं हरि भष कहि जु गयौ ।
हरि दरसत्त हरि मुदित उदित हरि, हरि ब्रज हरि जु लयौ ॥
हरि रिपु ता रिपु ता पति कौ सुत, हरि बिनु प्रजरि दहै ।
हरि कौ तात परस उर अतर, हरि बिनु अधिक बहै ॥
हरि तनया सुधि तहाँ बदति हरि, हरि अभिमान न ठायौ ।
अब हरि दबम दिबा कुबिजा कौं, सूरदास मन भायौ ॥*

शब्दार्थ—हरि = श्री कृष्ण । हरि भष = सिंह, भक्षण माँस = मास । हरि=मोर, मेघ, इद्र सूर्य, हरण करना । हरि० सुत=हरि मोर, शत्रु सर्प, उसका

* ना प्र० ९४८६-४८०७ । वें ५०१-९१ ।

शत्रु गरुड़, पति विष्णु, पुत्र कामदेव। हरिकौ तात=हरि बंदर, हनुमान, तात (पिता) पवन। हरि-तनया=सूर्य पुत्री यमुना। हरि-दबन=कामदेव को दबाने वाला, भोग।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—श्री कृष्ण एक महीने में लौटने की कह गये थे (किंतु अभी तक नहीं आये)। अब ब्रज पर बादल गरज रहे हैं, मोर बोलते हैं और इंद्र भी अप्रसन्न हैं, क्योंकि ब्रज का सूर्य अब हरण हो गया है, अर्थात् कृष्ण अब ब्रज में नहीं हैं (इससे उसको अपना बैर चुकाने का अवसर मिल रहा है)। श्याम के बिना कामदेव हमको जला रहा है और पवन भी हमारे अंतस्तल को छूकर अधिक वेग से बह रहा है। हे सखी! (तुम्हें) यमुना किनारे की याद है, जहाँ कोयल बोलती थी (अर्थात् यमुना किनारे के एकांत उपवन में जहाँ कोयल बोलती थी और हमारा सहेट था) वहाँ तो उन्होंने हमसे कभी अभिमान किया नहीं (उल्टे हमारी चापलूसी करते थे)। अब वहाँ कृष्ण कुब्जा को भोग देकर (और हमको जोग भेजकर) अपनी मनचाही कर रहे हैं, अर्थात् हमसे अभिमान कर रहे हैं।

अलंकार—

१. यमक—

हरि शब्द की अनेक आवृत्ति अनेक अर्थ में होने से।

२. विभावना पाँचवीं—

(अ) हरि०···दहै। (क) हरि०··· बहै। काम और वायु नायिका के लिये अलग प्रभाव रखते हैं।

रस—श्रृंगार रस. नायिका प्रोषितभर्तृका।

(६४)

राग नट

ग्वालिनि, छाँड़ि दोष रहउ[1] खरयौ।
तेरे बिरह बिरहिनी व्याकुल, भुवन काज बिसरयौ॥
कर पल्लव उड़पति[2] रथ खैंच्यौ, मृगपति बैर करयौ।
पंछी पति सब ही सकुचाने, चातक अनँग भरयौ॥

पा०—(१) ना. प्र. दै विरह, सर. रहु, वें. देखि रहु। (२) सर. ते।

सारँग सुर[1] सुन भयौ बियोगी हिमकर गरब टरयौ ।
सूरदास सायर[2]-सुत-हित पति, देखत मदन हरयौ ॥ *

शब्दार्थ—दोष=विरोध, मान । उपपति=चंद्रमा । पति=मर्यादा । सारंग=स्त्री, नायिका । हिमकर=शीतल किरणों वाला चंद्रमा । सायर०···पति=सागर का सुत चंद्रमा, उसका हित नक्षत्र, उनकी पति दीप्ति, कांति । मदन=कामदेव ।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से ।

भावार्थ—उस ग्वालिनि को मान छोड़ कर अलग खड़ा हो गया है, अर्थात् नायिका का मान-मोचन हो गया है और वह तुम्हारे विरह में इतनी दुखी है कि संसार के सभी काम-काज भूल गई है । चंद्रमा ने भी बैर साध कर अपने मृगों की रास खींच ली है (जिससे रात व्यतीत नहीं होती) । समस्त पक्षी अपनी मर्यादा से संकुचित हो गये हैं, अर्थात् रात्रि के समय जो पक्षियों का कलरव नहीं सुनाई देता, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे नायिका की विरहावस्था से दुखी होकर चुप हो गये हैं । केवल एक चातक ही काम में भर कर 'पी' शब्द कह रहा था, किंतु वह भी उसके शब्द को सुन कर वियोगी हो गया है, अर्थात् उसका पिउ-पिउ शब्द सुन कर वह भी पिउ कहना भूल गया है । चंद्रमा को हिमकर होने का गर्व दूर हो गया है (क्योंकि नायिका को वह दाहक प्रतीत होता है) । कामदेव ने देखते ही देखते उसकी शोभा हर ली है ।

अलंकार—

१. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा—

कर-पल्लव ।

इसमें वाचक और साधारण धर्म का लोप होने से वाचक-धर्म लुप्ता है ।

२. तृतीय प्रतीप—

सारँग०···वियोगी । यहाँ चातक का शब्द नायिका के शब्द की उपमा नहीं पा रहा, इसी कारण वियोगी हो गया । यहाँ उपमान हीन सिद्धि हुआ ।

३. परिकरांकुर—

'हिमकर' यहाँ साभिप्राय विशेष्य है ।

रस—शृंगार रस, सखी द्वारा विरह निवेदन ।

पा०—(१) सर. सुर, (२) सागर ।

* ना. प्र. १४०६–४०१० । वें. ५०१–६५ । सर. १२६–४० ।

(६५)

राग सारंग

ऊधौ, इतने मोहि सतावत ।

कारी घटा देखि बादर की, दामिनि चमक डरावत ॥

हेम-सुता-पति कौ रिपु ब्यापै, दधि-सुत रथ न चलावत ।

अंबु-खंड़न सब्द सुनत ही, चित्त चकृत उठि धावत ॥

कंचनपुर-पति कौ जो भ्राता, ता प्रिय[1] बलहिं न आवत ।

संभु-सुत कौ जो बाहन है, कुहकैं असल सलावत ॥

जद्यपि भूषन अंग बनावति, सो भुजंग ह्वै धावत ।

सूरदास बिरहिनि अति ब्याकुल, खग-पति चढ़ि किन आवत ॥*

शब्दार्थ—**हेम०**...रिपु-हेम-सुता पार्वती, पति महादेव, रिपु कामदेव। **अंबु-खंडन**=पपीहा। **कंचन०**...प्रिय=कंचनपुर स्वर्णपुरी, सोने की लंका, पति रावण, भ्राता कुंभकरण, प्रिय निद्रा। **संभु०**...है=संभु-सुत कार्तिकेय, वाहन मोर। **खग-पति**=गरुड़, पति कृष्ण।

प्रसंग—गोपी वचन उद्धव प्रति।

भावार्थ—हे उद्धव! मुझे इतने मिलकर दुख दे रहे हैं। आकाश की काली घटा और बिजली मुझे डरा रही है। देह में काम व्याप्त है और चंद्रमा अपना रथ नहीं चलाता (जिससे रात व्यतीत नहीं होती)। पपीहा के 'पिउ' शब्द को सुनकर मेरा मन चौंक कर उधर ही देखने लगता है। प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आती। मोर का शब्द भी हृदय में चुभता है। यद्यपि हम शरीर पर आभूषण धारण करती हैं, परंतु वे भी सर्प होकर काटने दौड़ते हैं। हम विरहणी अत्यंत व्याकुल हैं। वे खगपति होकर भी गरुड़ पर चढ़ कर क्यों नहीं आते। (इसके कहने का तात्पर्य यह है कि जब भगवान को कोई दुःख पड़ने पर पुकारता है, तो वे करुणामय केशव तुरंत ही गरुड़ पर चढ़कर आते हैं और उसकी रक्षा करते हैं, परंतु हम पर विरह का इतना दुःख पड़ रहा है और हम उन्हें दिन-रात पुकारती हैं, फिर भी वह क्यों नहीं आते)।

पा०—(१) वें सब।

* ना. प्र. १४७७–४२४१। वें. ५२१–७६। नव. ६७१–२३२। मथु. २१६–४८४। यो. ३८२–१३६६।

अलंकार—

१. व्याघात—

'जद्यपि०···धावत।' यहाँ भूषण सुख का कारण होते हुए भी दुःख के देनेवाले हो गये। इसलिए व्याघात हुआ।

२. परिकरांकुर—

'खग-पति' यह विशेष्य साभिप्राय है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(६६)

राग सारंग

हरि-सुत-सुत हरिकैं[1] तनु आहि।
ह्याँ को कहै कौंन की बातैं, ग्यान ध्यान[2] को काहि॥
को मुख अमर तासु जुबती को, को जिन कंस हते।
हमरे तो गोपति-सुत-अधिपति, बनति[3] न औरनि ते॥
मोरज रंध्र रूप रुचिकारी, चितै-चितै हरि होत।
कबहुँ कर करनी समेति लै, नैंकु मान के सोत॥
ता रिपु समैं संग सिसु लीन्हैं, आवत हे तन घोष।
सूरदास स्वामी मनमोहन, कत उपजावत दोष॥*

शब्दार्थ—हरि-सुत-सुत = हरि पवन, पुत्र हनुमान, पुत्र मकरध्वज, कामदेव। हरिकैं = हड़िकै, दुख देता है, सताता है। अमर=उद्धव। को०·· जुबती= उद्धव के मुख में कोंन है निर्गुण ब्रह्म, पत्नी माया। गोपति-सुत = गोपति नंद, उनका सुत कृष्ण। मोरज रंध्र = मोर पंख। मान का रिपु = वसंत।

प्रसंग—गोपियों का वचन उद्धव से।

भावार्थ - (हे उद्धव!) हमारी देह को काम सता रहा है। यहाँ हम किससे किसकी बात कहें और हमारे पास ज्ञान का ध्यान धारण करने को क्या है? निर्गुण ब्रह्म क्या है, माया क्या है और कंस को किसने मारा? (यह हम कुछ भी नहीं जानतीं। हमारे तो नंद के पुत्र श्री कृष्ण (सगुण) ही स्वामी हैं, हमारी तो और किसी से नहीं पटती। हमें तो मोर पंख-धारण किये हुए ही

पा०—(१) ना. प्र. हरि के। (२) ध्यान सुमरो। (३) बनिता। (४) ना. प्र. वें. है।

* ना. प्र. १५४४–४४६६। वें. प्रे. ६८६–४०। वें. ५३८–४०। सर. १२८–४२।

स्वरूप अच्छा लगता है, जिसको देख-देख कर हम हरि रूप हो जाती हैं, अथवा जिसकी चितवन देख कर ही हमारा मन हरण हो जाता है। जो हमारे तनिक से मान करने पर हमारा हाथ अपने हाथ में ले लेते थे, अर्थात् हमको मनाते थे। वसंत ऋतु में बालकों सहित व्रज की ओर आते थे, वही मनमोहन हमारे स्वामी हैं। तुम हमारे हृदय में दोष क्यों उत्पन्न करते हो, अर्थात् हमारे हृदय में विपरीत भावना क्यों उत्पन्न करते हो।

अलंकार—

१. यमक—

इस पद में हरि, हरि कैं, हरि शब्द की आवृत्ति विभिन्न अर्थों में होने से यमक अलंकार है।

२. बहिर्लापिका—

को मुख०···को। भ्रमर के मुख में क्या है, उसकी स्त्री कौन है? इसका उत्तर बाहर से आ रहा है इसलिए बहिर्लापिका है।

३. पुनरुक्ति प्रकाश—

चितै०····होत। इसमें चितै-चितै शब्द दो बार आने से अर्थ में रुचिरता बढ़ जाती है। इसलिए पुनिरुक्ति प्रकाश है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

टिप्पणी—

'चितै-चितै हरि होत'।

भृंगी एक छोटा-सा कीट होता है, जिसको भौंरा पकड़ कर अपने नीड़ में बंद कर देता है और उसके सामने निरंतर गुंजारता रहता है। उसकी गुंजार सुनते-सुनते भृंगी भी भौंरा हो जाता है। इसी प्रकार गोपियाँ कहती हैं कि हम कृष्ण को देखते-देखते कृष्ण रूप हो जाती हैं। फिर हमें ब्रह्म इत्यादि की क्या आवश्यकता है।

(६७)

राग सारंग

हरि, हम काहे कौं जोग बिसारी[१]।
प्रेम-तरंग बूड़त ब्रजबासी, तरत स्याम सोइ[२] हारी[३]।

पा०—(१) ना। प्र. हरि हमकौं यौं काहे बिसारी, (२) सो, (३) इहाँ री।

रिपु माधव, पिक-बचन, सुधाकर मरुत मंद गति भारी।
सहि न सकति अति बिरह भास तन, आग सलाकनि जारी ॥
ज्यौं जल थाकैं मीन कहा करैं, त्यौं हरि मेलि अडारी।
बिनै[1] अधोमुख नैन[2] सूर प्रभु, कहियो बिपति हमारी ॥*

शब्दार्थ—माधव = वसंत। सलाकनि = छड़। मरुत = मारुत, पवन। भास = कल्पना।

प्रसंग—गोपी वचन उद्धव प्रति।

भावार्थ—श्री कृष्ण ने हमको भुला कर योग क्यों भेजा है, अर्थात् वे स्वयं तो आये नहीं और यह जानते हुए भी कि हम उनके साकार रूप की ही उपासक हैं, हमको निर्गुण योग का संदेश क्यों भेजा है? ब्रजवासी प्रेम की तरंगों में डूबे हुए हैं, इसीलिए वह तर गये हैं और श्याम जो तैर रहे हैं वही हार गये हैं, अर्थात् वह हमारे प्रेम की गम्भीरता को नहीं समझ पा रहे हैं इसी में उनकी हार है। वसंत ऋतु, कोयल और चंद्रमा हमारे शत्रु हो गये हैं, और धीमे-धीमे चलनेवाली वायु भी हमको भारी पड़ गई है। जिस विरह की कल्पना को भी हम नहीं सह सकती थीं, वही हमको आग की शलाकाओं से जला रही है। जिस प्रकार जल के सूख जाने पर बिचारी मछली कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार कृष्ण ने हमको आश्रय-हीन कर दिया है। (हे उद्धव) तुम मुख और नेत्रों को झुका कर (प्रणाम करके) हमारी विपत्ति श्री कृष्ण से कहना।

अलंकार—

१. विरोधाभास—

प्रेम···हारी। जो डूब गया है, वही तैरता है और जो तैरता है वही हार गया या डूब गया है। यही विरोध है।

लक्षण—

वहै बिरोधाभास, भासै जहाँ बिरोध सौ।
वा मुख चंद्र प्रकास, सुधि आएँ सुधि जात है।

२ तुल्ययोगिता प्रथम—

पिक०··· कर'। इन सबका एक ही धर्म रिपु कथन है। इसलिये तुल्ययोगिता प्रथम हुई।

पा०—(१) सर. विजय। (२) लैन।

* ना. प्र. १५४६–४४६६। वें. ६८६–४६। सर. १२६–४३।

३. दृष्टांत—

'ज्यौं०···अडारी'। यहाँ उपमेय और उपमान बिंब-प्रतिबिंब भाव से आये हैं।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

टिप्पणी—

सरदार कवि ने इस भाँति टीका की है—

"हरि हम काहे को इति। गोपी की उक्ति। हरि ने हमको काहे को बिसारी। प्रेम की जो तरंग है, तामें बूड़त ब्रजवासी पैरन से हारे हैं। माधव रिपु पावस औ पिक बचन औ चन्द्रमा औ मन्द गति मारुत, इन्है बिरह की भास सो हम नाहीं सहि सकै हैं। इनते आगि जरै है। विजय को उलटो अर्थ अजब तरह के प्रभु को कहियो कि अजब बिपत्ति गोपिन को है।"

(६८)

राग कर्नाटी

देखि रे,[१] प्रघट द्वादस मीन।

ऊधौ, एक बार नँदलाल राधिका, आवत सखी सहित[२] रस भीन॥
गए नवकुंज, कुसमनि के पुंज करैं अलि गुंज, सुख हम[३] लवलीन।
षट उड़गन, षट मनिधरहु राजत हैं, चौबिस धातु चित्र किहि कीन॥
षट इंदु द्वादस पतंग मनु मधुप सुनि, खग चौवन माधुरि रस[४] पीन।
द्वादस बिंब, सौ बानवै ब्रजकन, षट दामिनि, जलजनि हँसि दीन॥
द्वादस धनुष द्वादसै बिषका मोहन मन षट चिबुक चिन्ह चित चीन।
द्वादस ब्याल अधोमुख झूलत[५] मानौं कंज दल सौ बीस बसीन॥
द्वादसै मृनाल, द्वादस कदली खंभ, [६]द्वादस दाड़िम सुमन प्रबीन।
चौबीस चतुस्पद ससि सो बीस मधुकर, अंग-अंग रस कंज नवीन॥
नील नीलै मिली घटा[७]दामिनि मनौं, सब सिंगार सोभित हरि हीन।
फिर-फिर चक्र गगन मैं अमी बतावत, जुबती जोग[८] मौन कहु कीन॥
बचन रचन रस रास नंद-नँदन तैं, जोग पौन हिरदै लवलीन।
नंद-जसुदा दुखित गोपी ग्वाल गोसुत, मलिन[९] दिन ही दिन दुखीन॥

पा०—(१) वें. रे प्रेम प्रकट, (२) सहित गिरधर, (३) हम देखि भई लवलीन (४) दल, (५) झूलत मधु, (६) मानो द्वादस, (७) घटा विविध दामिनी, (८) वही जोग, (९) सब मालिन।

बकी, बका, सकटा, तृन केसी[1] बृषभ,[2] बिनु गोपाल बैर इन कीन।
उधौ परैं पाँइ सूरज प्रभु मिलाइ,[3] आरत हरैं भई तन छीन॥*

शब्दार्थ—बिषका=बाण। ब्याल=सर्प रूपी हाथ। अधोमुख=उल्टे। चक्र गगन=ब्रह्माण्ड चक्र पौन=पवन।

प्रसंग—गोपियाँ कहती है कि एक बार राधा-कृष्ण सखी-सहित यमुना तीर कुंज में आए, जहाँ उनका प्रतिबिंब पड रहा था।

भावार्थ—हे उद्धव ! एक समय राधा-कृष्ण सखी-सहित रस में लीन होकर नवीन कुंजों में पधारे जहाँ पुष्प विकसित थे और भ्रमर गुंजार कर रहे थे। इस सुख को देख कर हम लवलीन हो गई। वहाँ हमने प्रत्यक्ष बारह (नेत्र रूपी) मछलियाँ देखी। छह मणिधर सर्प (सीसफूल सहित वेणी) शोभायमान थे और चौबीस धातु चित्रित थीं। छह मुख चद्र, बारह कर्णफूल रूपी सूर्य, सरस चौवन पक्षी, बारह बिंबाधर, एक सौ बानवे हीरा (जैसे दांत) ऐसे प्रतीत होते थे मानों छह दामिनी कमलो मे हँस रही हो। बारह धनुष (भ्रू), बारह बाण (कटाक्ष) जो मनको हरनेवाले थे, छह चिबुक जो चित्तको छूने वाली है, बारह सर्प (रूपी हाथ) जो उल्टे झूल रहे थे। (हाथ और पैरो के नख ऐसे प्रतीत होते थे) मानो कमल दल पर एक सौ बीस चद्र बैठे हों। बारह मृणाल (भुजा), बारह कदली खंभ (जंघा) और बारह ही अनार के फूल (मसूड़ो की पक्ति) और चौबीस चौपाये तथा एक सौ बीस चद्रमा थे। उनके अंग-अंग की आभा नवीन कंज के समान थी। जिम पर हमारा मन मोहित है। वहा ऐसा मालुम होता था मानों नीली घटाएँ और दामिनी है। अब यह शृंगार तो सब है, परतु कृष्ण से रहित होने से सब हीन है। तुम हमें बार-बार ब्रह्माण्ड चक्र में अमृत बतलाते हो और युवतियों को मौन रहने को कहकर योग सिखा रहे हो, परंतु हमारा हृदय तो नंद-नंदन के वचन, कर्म और रासरूपी योग की प्राणवायु से भरा पडा है। नंद और यशोदा दुखी हैं। गोपी, ग्वाल, बछड़ा दिन-प्रतिदिन मलीन हो रहे हैं। बिना कृष्ण के पूतना, बकासुर, अघासुर, केसी और बृषभासुर ने हमसे

पा०—(१) वें. केसी, बच्छ, (२) बृषभ रासि में अलि, (३) उद्धव यहाँ मिलाइ परे पाइ तेरे सूर प्रभु।

* ना प्र. १५५२-४४८५। वे प्रे ४७१-६२। वे. ५४१-६२। नव २०४-३३७, ५५८-७२। सं. क. द्वि भा. ५२६-१४। पो. ३१६-१०२४। वा ३८७-१५२६। दि. १७०-८०५।

बैर किया है। हे उद्धव ! हम तुम्हारे पावों पड़ती हैं, तुम हमे श्यामसुंदर से मिलाकर हमारा दुख दूर करो, हम अत्यंत कृशगात हो गई हैं।

अलंकार—

रूपकातिशयोक्ति —

उड़गन, मनिधर, धातु, इदु इत्यादि केवल उपमान है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(६६)

राग सारंग

हरि-बिनु, ऐसी बिधि ब्रज जीजै।
कज्जल बरषि-बरषि उर ऊपर, सारँग-रिपु जल भीजै॥
तारा-पति अरि के सिर ठाढ़ी, निमिष चैन नहिं कीजै।
बायस-अजा सब्द की मिलवनि, याही दुख तन छीजै॥
चौथें चद जात गोपिन कौं, मधुप राखि जस लीजै।
सूरदास प्रभु बेगि कृपा करि, प्रघट दरस हमैं दीजै॥[1]*

शब्दार्थ—कज्जल=काजल मिले हुए आँसू। सारँग-रिपु=सारँग सर्प, रिपु केंचुली=कुंचुकी चोली, अथवा सारँग=कामदेव, रिपु शिव, कुच शिव। तारा०·· सिर=तारा-पति चंद्रमा रिपु राहू, राह। बायस०··· मिलवन=बायस, काग, अजा-सब्द=बकरी का शब्द 'मैं' दोनों के प्रथम अक्षर मिलाकर हुआ कामै-काम। चौथें=टुकड़े-टुकड़े करता है।

प्रसंग — गोपी वचन उद्धव प्रति।

भावार्थ—(हे उद्धव !) ब्रज मे हम बिना कृष्ण के किस प्रकार जीवित रह सकती है ? हमारे नेत्रों से काजल मिले हुए आँसू हमारी कंचुकी (अथवा कुचों) को भिगोये देते हैं। (हम उनके आगमन की प्रतीक्षा में) मार्ग के किनारे पर खड़ी रहती है और क्षण मात्र को भी आराम नहीं करतीं। काम के दुःख के कारण ही हमारी देह (दिन-दिन) क्षीण होती जा रही है। हे मधुप ! (कृष्ण के विरह में) यह चंद्रमा गोपियो के टुकड़े-टुकड़े किये डालता

पा०—(१) इस पद का तीनो (ना प्र. वें बाल) प्रतियों का पाठ शब्दों के हेर-फेर से एकदम पृथक्-पृथक् है, परतु अर्थ में तथा दृष्टिकूटात्मक शब्दो में कोई परिवर्तन नहीं है।

* ना. प्र. १५६६–४५३० । वें, ५४५–१ । बाल. १५–६ ।

है। इस लिए आप (हमको उनसे मिला कर) हमारी रक्षा का यश लूट लो। (आप उनसे जाकर कहना कि) हे प्रभु ! आप हमें शीघ्र ही दर्शन दें।

रस—शृ गार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

(७०)

राग नट

कहत कत परदेसी की बात।[१]
मदिर अरध अबधि बदि हमसौ, हरि अहार चलि जात॥
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर रिपु कीन्हौं[२] घात।
मघ पचम[३] लै गयौ साँवरौ[४], तातै अति[५] अकुलात॥
नखत, बेद ग्रह जोरि अध करि, सोई बनत[६] अब खात।
सूरदास बस भई बिरह के, कर मीजै[७] पछितात॥*

शब्दार्थ—मदिर अरध=मदिर घर, उसका आधा पक्ष, पद्रह। हरि अहार= सिंह का भक्षण माँस=मास। ससि-रिपु=चद्रमा का शत्रु, दिन। सूर रिपु=सूर्य की शत्रु रात्रि। जुग=युग। हर रिपु-हर महादेव, उसका रिपु कामदेव। मघ पचम=मघवा नक्षत्र से पाँचवा नक्षत्र चित्रा=चित्त। नखत० करि=नक्षत्र २७, वेद ४ ग्रह ६ योग चालीस आधे बीस-बिष।

प्रसग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—तुम परदेसी की क्या बात कहती हो? वह हमसे पद्रह दिन में आने की प्रतिज्ञा कर गये थे, किंतु महीनो चले गये (फिर भी वह अभी तक नहीं आये)। हमारे लिये दिन वर्ष के समान, रात्रि युग के समान यतीत होती है और कामदेव हमको मारने के लिये घात लगाये हुए है। घनश्याम (कृष्ण) हमारा मन ले गये है, इसीसे हम अत्यत याकुल है। अब हमसे बिष खाते ही बन पडता है। इस प्रकार वह बिरहणी नायिका व्याकुल होकर हाथ मल मल कर पछता रही है।

पा —(१) बाल, कहौ कोऊ परदेसी की बात। (२) वें किए फिरै। (३) ना प्र पचक बाल रवि पचक। (४) वें श्याम घन। (५) वें जिय, बाल मन, (६) वें बनि आवै सोइ, (७) प्रभु तुमहि मिलन को। (८) बाल मींडे।

* ना॰ प्र॰ १५८५-४५६४। वे ५५०-५०। नव ६६४-१५६। दि १८६-६८१। सर १६-२४। कां ४४६-१६६३। बाल १३ ७।

अलकार—

१ वाचक धर्म लुप्तोपमा—

'ससि रिपु बरष और भानु रिपु जुग' में वाचक और साधारण धर्म का लोप है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

टिप्पणी—

१ बालकिशन ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

(अ) 'मंदिर अर्द्ध'—मंदराचल को अर्ध भाग में सूरज आवै तब साँझ होय सो साँझ को आवेंगे कहि गये।

(क) रवि पचक का अर्थ इस प्रकार दिया है कि 'रविवार तें पाँचयो बृहस्पती सो बृहस्पती को नाम जीव है।'

२ नखत० जोरि—

(अ) नक्षत्र सत्ताईस हैं उनके नाम इस भाँति है

(१) अश्वनी (२) भरणी (३) कृत्तिका (४) रोहिणी (५) मृगशिरा (६) आर्द्रा (७) पुनर्वसु (८) पुष्य (९) अश्लेषा (१०) मघा (११) पूर्वा फाल्गुनी (१२) उत्तरा फाल्गुनी (१३) हस्त (१४) चित्रा (१५) स्वाँति (१६) विशाखा (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा (१९) मूल (२०) पूर्वाषाढ़ (२१) उत्तराषाढ़ (२२) श्रवण (२३) धनिष्ठा (२४) शतभिषा (२५) पूवा भाद्रपदा (२६) उत्तरा भाद्रपदा (२७) रेवती।

(क) वेद चार है—

(१) ऋग्वेद (२) सामवेद (३) यजुर्वेद (४) अर्थववेद।

(च ग्रह नौ है—

(१) सूय (२) चद्र (३) मगल (४) बुध (५) बृहस्पति (६) शुक्र (७) शनि (८) राहू और (९) केतु।

३ सरदार कवि-कृत साहित्य लहरी का पाठ इस भाँति है—

सखी री, सुन परदेशी की बात।
अद्ध बाच पै गये धाम को हरि अहार चलि जात॥
ग्रह नछत्र अरु वेद अर्ध करि को बरजै मुहि खात।
रबि पञ्चम सँग गये श्याम घन ताते मन उकतात॥
कहुँ सहोक्त कवि मिले सूर प्रभु प्राण रहतु नतु जात।

(७१)

राग मलार

ब्रज की कहि न परत हैं बातैं।
गिरि-तनया-पति-भूषन जैसैं, बिरह जरी दिन रातैं॥
मलिन बसन हरि-हित अंतरगति, तन पीरौ जनु पातैं।
गद-गद बचन नैन जल पूरित, बिलख बदन कृस गातैं॥
मुक्ता-तात-भवन तैं बिछुरैं, मीन मकर बिललातैं।
सारँग-रिपु-सुत सुहृद पति बिना, दुख पावत बहु भातैं॥
हरि-सुर भषन बिना बिरहानैं, छीन भईं तन तातैं।
सूरदास गोपिन परतिग्या, मिलहु पहिले के नातैं॥*

शब्दार्थ—गिरि०....भूषन—गिरि-तनया पार्वती, पति महादेव, भूषण, चंद्रमा। कृस=दुर्बल। मुक्ता-तात-भवन=मुक्ता-तात समुद्र, भवन जल। सारँग०.... पति=श्रीकृष्ण। बिरह ने=विरह-व्यथा से व्याकुल हैं।

प्रसंग—उद्धव वचन श्रीकृष्ण प्रति।

भावार्थ—ब्रज की बातें कही नहीं जारही हैं। गोपियाँ विरह के कारण चंद्रमा से भी जली जारही हैं। वस्त्र मैले हैं, कृष्ण-प्रेम उनके हृदय में है और देह (इस भाँति) पीली पड़ गई है मानों सूखा हुआ पीला पत्ता हो। बात करने में उनके वचन गद्-गद् हो जाते हैं, नेत्रों से आँसू बहते हैं, मुख दुखी दिखाई देता है और देह दुर्बल होगई है। जिस प्रकार मछली और मगर जल से पृथक् होकर तड़फते हैं। (इसी प्रकार) गोपियाँ भी आपके (श्रीकृष्ण) बिना अनेक प्रकार से दुःख पारही हैं। श्रीकृष्ण की वाणी रूप भोजन न मिलने से वे विरह-व्यथा से व्याकुल हैं और इसीसे वह शरीर से क्षीण होगई हैं। इस लिए आप गोपीयों से अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पुराने नाते से ही मिलें। (इसका आशय यह है कि आप अब मथुरा के राजा हैं और वह आपकी प्रजा हैं, परंतु उनसे आप इस रूप में नहीं, गोपीनाथ के ही रूप में मिलें)।

अलंकार—

१. वस्तूत्प्रेक्षा–उक्तास्पदा—

'तनु पीरौ जनु पातैं'। पीले तन में पात की उत्प्रेक्षा है। दोनों ही वस्तु उक्त हैं।

* ना. प्र. १६३३–४७३८। वे. ५६५–६१। पो. ४०५–१५३६। चु. ८२–३४४।

२. प्रतिवस्तूपमा—

'बिलख० ·· तातैं'। इसमें बिलखना और बिललाना दोनों वाक्यों का एक ही साधारण धर्म है।

३. व्याघात—

'गिरि० ··· रातैं'। यहाँ चन्द्रमा का शीतलता प्रदान कार्य होना चाहिये था, किंतु उससे जलाना कार्य हुआ।

लक्षण—व्याघात जु और सौं, कीजै औरहि कार।

सुख पावत जासौं जगत, तासौं मारत मार।

रस—शृंगार रस, उद्धव द्वारा गोपियों का विरह निवेदन।

(७२)

राग नट

दधि-सुत[1] सौं बिनवति मृग-नैनी।

सुन उड़राज अमृत मय-मति कौं, तजि सुभाव बरषत कित दहैनी॥

उमा-पती-रिपु बहुत सतावै, हरि-रिपु-प्रीतम लागत गहैनी[2]।

छपा न छीन होत सुन सजनी, भूमि-धसन-रिपु[3] कहाँ दुरैनी॥

समय पाय संदेसौ कहियो, कित हरि छाय रहे करि छावनी[4]।

सूर स्याम बिनु भवन न भावै, चितवत हौं प्रीतम की आवनी[5]॥*

शब्दार्थ—दहनी = अग्नि। उमा-पति-रिपु = उमा-पति शिव, रिपु कामदेव। हरि-रिपु-प्रीतम = हरि मेंढ़क, रिपु सर्प, प्रीतम चंदन। छपा = रात्रि। भूमि-धसन-रिपु = भूमि में घुसने वाले कीड़े-मकोड़े उनका शत्रु, कुक्कुट = चिनगारी (अर्थात् दिन की चिनगारी उषा)। छावनी = सेना का पड़ाव, डेरा।

प्रसंग—विरहणी नायिका की उक्ति चंद्रमा से।

भावार्थ—चंद्रमा से मृगनैनी (नायिका) विनय करती है कि हे उड़राज! सुनो, तुम अपने अमृतमय (अर्थात् जीवन दान देने वाले) स्वभाव को त्याग कर जलाने वाली अग्नि क्यों बरसा रहे हो। काम बहुत सताता है और चंदन

पा०—(१) ना. प्र. उड़पति। (२) उमा-पति-रिपु अधिक दहत है हरि-रिपु प्रीतम सूखत नैनी। (३) भूमि धिसन रिपु, बाल. भूमि डसन रिपु। (४) ना. प्र. स्याम सँदेस विचार करत हौं, कहा रहे हरि छाइ जु छौनो। (५) सूर स्याम बिनु भवन भयानक, जोहत रहति गोपाल की औनी।

* ना. प्र. १६९९–४८८१। बाल. १३–८। वे. ५८९–९३।

भी बुरा लगता है। (फिर सखी को लक्ष करके) हे सखी ! रात्रि व्यतीत नहीं होती, जाने ऊषा कहाँ छिप गई है। (फिर चंद्रमा से) तुम कृष्ण से उचित अवसर देखकर कहना कि आप कहाँ डेरा डाले हुए पड़े हैं। तुम्हारे बिना (नायिका को) घर अच्छा नहीं लगता और वह तुम्हारे आने की बाट देख रही है।

अलंकार—

१. पाँचवीं विभावना—

(अ) 'सुनि० · दहैनी'। यहाँ चंद्रमा का अमृत स्वभाव तजकर जलाने वाला कहा।

(क) 'हरि०···गहैनी'। यहाँ चंदन का शीतल स्वभाव त्याग कर गहैनी (ताप देने वाला) कहा गया है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

टिप्पणी—(१) संस्कृत साहित्य में भ्रमरदूत, मेघदूत और हंसदूत आदि की रचनाएँ संस्कृत कवियों ने की हैं, उन्हीं के पद चिन्हों पर हिंदी में भी इसी प्रकार की रचनाएँ की गई हैं। इन सभी दूतों में नायिका और नायक द्वारा अपनी-अपनी विरह-कथा का संदेश अपने प्रेमी और प्रेमिका के पास भेजने का आयोजन किया है। इन सब में विरह की वेदना इतनी अधिक तीव्र होती है कि प्रेषक इस बात को बिल्कुल भूल जाते हैं कि संदेश भेजने लिये उचित पात्र भी है, अथवा नहीं, सूरदास का चन्द्र दूत भी उसी का उदाहरण है। चंद्रमा नायिका को उदय होकर दुःख देता है, परंतु यह जानते हुए भी वह अपना संदेश चंद्रमा के द्वारा भेज रही है (सोचती है, शायद इसे दया आजाय और उनसे मेरा संदेश कह दे)

(२) यहाँ 'दधि-सुत सौं बिनवति मृग-नैनी' में कवि ने जो विनय कराई है तथा अपना संदेश भेजा है, वह ना० प्र० वाले पाठ में हमें नहीं जचा। इस लिए हमने बालकिशन वाले पाठ को ही लिया है।

(३) यहाँ दधि-सुत कहने से कविका तात्पर्य यह है कि तुम्हारी उत्पत्ति समुद्र से है। इस लिये तुम अमृत मय कहे जाते हो, क्योंकि तुम सुधा के भाई हो। इसलिए हमारी समझ में दधि-सुत ही पाठ होना चाहिए न कि उड़पति।

(४) बाल किशन ने भूमि-घसन रिपु का पाठ 'भूमि डसनरिपु' तथा ना० प्र० ने 'भूमि घिसन-रिपु' शब्द माना है। डसना शब्द फन मारने, डसने वाला, अथवा भूमि घिसन को रगड़ के चलने वालों में सर्प के अतिरिक्त एक मुर्गा ही है। फिर भूमि

डसन यदि मुर्गा है तो फिर उसका शत्रु कौन ? कुत्ता, बिल्ली इत्यादि या रात्रि, जो उसके बोलने के साथ ही भाग जाती है, आती नहीं, लेकिन यहाँ 'दुरैनी' इस बातको बतला रही है कि कवि किसी वस्तु को बुला रहा है, इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं जँचा। इसी लिये इसका हमने पाठ 'ड' के स्थान पर 'घ' करके घसन रिपु ले लिया है, घसन शब्द घुसने के अर्थ में है। भूमि-घसन का अर्थ पृथ्वी में घुसे हुए कीड़े मकोड़े होते हैं जिनको मुर्गा खा जाता है, जिसका पर्याय कुक्कुट होता है और उसका अर्थ चिनगारी=उषा हो जाता है। नायिका उसी के प्रकाशकी इच्छा करती है।

यहाँ 'समय पाय संदेसौ कहियो' में 'समय पाय' शब्द का बड़ा सुंदर प्रयोग है। पहिला तो यह है कि तुमने यदि दरबार में जाकर, जब वे किसी राज कार्य में में व्यस्त हों, उस समय हमारा संदेशा कहोगे, तो सुनने वाला भी नहीं मिलेगा अथवा तुम कुब्जा [illegible] के महलों में हमारा संदेश कहने बैठोगे तो निकाल दिये जाओगे। इसलिए तुम उचित [illegible] अवसर देखकर ही कहना कि तुम कहाँ आ पड़े हो, अपने घर पधारो, [illegible] प्रेमिकाएँ तुम्हारी बाट देख रही हैं।

(७३)

राग विभास

देखौ सखि, अकथ रूप अतूथ[1]।
एक अंबुज मध्य दिखियत, बीस दधि[2]-सुत जूथ[2] ॥
एक सुक तहँ[3] दोइ[4] जलचर, उभै अर्क अनूप।
पंच बारिज[5] एक ही ढिंग, कहौ[6] कौंन सरूप[7] ॥
भई सिसुता माँहि सोभा[8], करौ अर्थ बिचारि।
सूर श्रीगोपाल की छबि, राखिऐ उर धारि ॥*

—अतूथ (अति-अधिक + उत्थ—उठा हुआ) = अपूर्व। अंबुज = कमल। जूथ = समूह। जलचर = मीन, मछली जैसे नेत्र।

पा०—(१) वें. अद्भुत रूप अनूप। नि. एक अद्भुत रूप। आ. बाल., देखरी देख अद्भुत रूप। (२) नि. आ. जूथ। (३) बाल. नि. एक अवली। (४) वें. बिराजै। (५) वें. वह सखि (६) वें. स्वरूप। (७) सिसुता में सोभा भई।

* ना. प्र. परि. ३ [illegible]। वें. १०८-५७। नि. ६६-७। आ. २०३-३०। बाल. ८-३।

प्रसंग—कृष्ण को अपने हाथ-पैर मुख में देते हुए देख कर सखी-द्वारा बाल-रूप वर्णन, सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी ! एक अकथनीय अपूर्व रूप देखो ! एक कमल (मुख) में बीस चन्द्रमाओं (नखों) का समूह है। एक शुक (नासिका), दो मीन (नेत्र) और दो अनुपम सूर्य (कर्णफूल) थे। जहाँ पाँच कमल (एक मुख-कमल में दो कर तथा दो पद-कमल) एक ही स्थान पर हैं। बताओ, वह कौन-सा रूप है ? (यदि तुम इसका पता पूछो तो) यह बाल्यावस्था की ही शोभा है। इसका अर्थ विचार पूर्वक करो और भगवान की इस छवि को हृदय में धारण करो।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

सुक, जलचर, अर्क केवल उपमान ही हैं।

२. प्रहेलिका—

सखी, सखी से गुप्त बात का अर्थ जानना चाहती।

(७४)

राग सामंत

कुंज मैं बिहरत नवल किसोर।
एक अचंभौ देखि सखी री, उग्यौ सूर बिनु भोर॥
तहँ बन स्याम दामिनी राजत, द्वै ससि चारि चकोर।
अंबुज खंजन मधुप आप मिलि, क्रीड़त एकहि खोर॥
तहँ द्वै कीर बिंब फल चाखत, बिद्रुम मुक्ता चोर।
चारि चिकुर आनन पर झलकत, नाचत सीसनि मोर॥
तामैं एक अधिक छबि सोहै, हंस कमल इक ठौर।
हैंमलता तमाल नहिं द्वै फल मानौं देति अँकोर॥
कनक लता नीलम पर राजत उपमा कहँ सब थोर।
सूरदास प्रभु इहिं बिधि क्रीड़त ब्रज जुबती-चितचोर॥*

शब्दार्थ—खोर = गली। अँकोर = आलिंगन।

हिलने वाले।

* ना. प्र. परि. २०–६०।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से। राधा-कृष्ण विहार वर्णन।

भावार्थ—हे सखी! कुंज में नवलकिशोर (राधा के संग) विहार कर रहे हैं। वहाँ बिना अरुणोदय के ही सूर्य का प्रकाश हो रहा है (अर्थात् राधा के केशों में लगे सीसफूल का प्रकाश है अथवा उनके तेजस का प्रकाश है)। वहीं घनश्याम (श्री कृष्ण) और दामिनी (गोरांगी राधा) शोभा दे रहे है। दो चंद्रमा (मुख) और चार चकोर (नेत्र) हैं, अर्थात् प्रिया-प्रीतम के मुख के लिए एक दूसरे के नेत्र चकोर हैं। कमल (मुख), खंजन (नेत्र) और भ्रमर (केश) एक ही गली (स्थान) में क्रीड़ा कर रहे हैं। वहीं दो शुक (नासिका), बिंबाफल (अधर) को चाख रहे हैं। विद्रुम और मुक्ता (मसूड़े और दाँत, मुख में) छिपे हुए हैं। मुख पर अलकें हिल रहीं हैं और मस्तकों पर मोर नाच रहे हैं (कृष्ण के सिर पर मोर-मुकुट और राधा के सिर पर मोर-पंख की चंद्रिका)। इसमें एक और सुंदरता है कि कमल (चरण) और हंस (चाल) एक ही स्थान पर हैं। श्री राधा-कृष्ण इस प्रकार शोभा दे रहे हैं, मानों हेमलता और तमाल, जिनमें दो फल नहीं हैं, आलिंगन कर रहे हैं, अर्थात् हेमलता में दो फल कुच रूप हैं और तमाल में नहीं हैं, अथवा यह कहें कि कनक-लता (स्वर्ण-लता) के साथ नीलम शोभायमान है तो यह उपमा भी न्यून है। ब्रज-युवती और चितचोर श्री कृष्ण इस प्रकार क्रीड़ा कर रहे हैं।

अलंकार—

१. विभावना प्रथम—

'उग्यौ सूर बिनु भोर'। यहाँ भोर (प्रातः काल) रूपी कारण के न होने पर भी सूर (सूर्य) का उदय रूपी कार्य हुआ।

२. तुल्ययोगिता प्रथम—

'अबुज०···खोर।' यहाँ अंबुज, खंजन, मधुप का एक ही साधारण धर्म वर्णन किया है।

३. रूपकातिशयोक्ति—

'अंबुज०···चोर'। यहाँ अंबुज, खंजन, मधुप, घनश्याम, दामिनी आदि उपमान का ही वर्णन है!

४. वस्तूत्प्रेक्षा—उक्तास्पद—

'तामै०···अंकोर'। इसमें राधा और कृष्ण की उत्प्रेक्षा हेमलता और तमाल (वृक्ष) से की है तथा दोनों ही वस्तु उक्त होने से उक्तास्पद है।

५. पाँचवाँ प्रतीप—

'उपमा कहँ सब थोर' यहाँ सभी उपमाएँ थोड़ी होने से व्यर्थ सिद्ध हुईं इसलिए पाँचवाँ प्रतीप होगा।

(७५)

राग केदार

जल-सुत-सुत ताकौ रिपु-पति-सुत, घेरि लई सखि हौं कित ध्याऊँ।
कालनेमि-रिपु ताकौ रिपु और ता बनिता कौं कहूँ न पाऊँ॥
धरनि-गगन मिलि होइ जो सजनी, सो गए ता बिनु दिन बिलखाऊँ।
दसरथ-तात-सत्रु कौ भ्राता, ता प्रिय सुता सु कैसैं पाऊँ॥
एक उपाय जानि जो पाऊँ, मो खगपति-पितु-दृष्टि चुराऊँ।
सूरदास ते गिरबर भ्राता, चिंता-रहित सकल दिन गाऊँ॥*

शब्दार्थ—जल-सुत०···सुत = जल सुत पंक, पुत्र पंकज, शत्रु हाथी, पति विष्णु, पुत्र कामदेव। कालनेमि०···बनिता = कालनेमि रिपु हनुमान, उसका रिपु मकरध्वज = कामदेव, स्त्री रति। धरनि०···जो=पृथ्वी और आकाश जहाँ मिलते हैं ऐसे अनंत = श्री कृष्ण। दसरथ०···सुता=दसरथ-तात राम, शत्रु रावण, भाई कुंभकर्ण, प्रिय सुता नींद। खगपति-पितु=खगपति गरुड़, पिता कश्यप कछुआ।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! मुझे काम ने घेर लिया है। (उससे बचने के लिए) अब मैं कहाँ जाऊँ और मुझे सुरति किस प्रकार प्राप्त हो (क्योंकि) श्री कृष्ण के चले जाने से मैं दिन-रात दुखी रहती हूँ। (अब तुम्हीं बताओ कि) मुझे रात को नींद कैसे आवै। यदि मैं (किसी प्रकार) एक ही उपाय जान लूँ और कछुआ की दृष्टि प्राप्त कर लूँ (कछुआ अपने अंडों को पृथ्वी पर देकर जल से ही सेवन करता है। अतः नायिका का कहना यह है कि यदि इसी प्रकार की दृष्टि पाकर मैं कृष्ण का सेवन दूर ही से कर सकूँ तो) चिंता रहित होकर श्री कृष्ण के गीत गाया करूँ। (कहने का तात्पर्य यह है कि जब मैं कृष्ण का दूर से सेवन कर सकूँगी तो विरह-ताप का भय नहीं रहेगा और मैं सदा प्रसन्न रहूँगी)।

रस—श्रृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

* ना. प्र. परि. २३—७०।

(७६)

राग कान्हरौ

स्यामा, निसि मैं सरस बनी री,
मृग-रिपु लंक, तासु रिपु गज, ता ऊपर मधु केलि ठनी री ॥
कीर, कपोत, मधुप, पिक तुंबर[1]-रिपु-सुत[2] रेख बनी री ।
उड़पति बिंब धरै अति सोभा, सुर बाला जो रचिनी री ॥
कनक-खंभ रचि नव-सत साजे, जल धर-भष जब स्त्रवन सुनी री ।
करि गहि सत्र सात पर सारँग, दंपति ही की सुरति ठनी री ॥
उमा-पतिहिं रिपु कौं ललचानी, बन-रिपु तन मैं अधिक जरी री ।
सूरदास-प्रभु मिले राधिका, तन-मन सीतल रोम भरी री ॥*

शब्दार्थ—बनी = श्रृंगार किये थी । तुंबर०…रेख = तुंबर धनियाँ-युवा स्त्री, शत्रु मन-पुत्र मनोज, रेखा भौंह । उड़पति=चंद्रमा । जलधर-भख=जलधर, मेघ हैं भख जिसका ऐसा पपीहा । सत्र=सार । सारँग-श्री कृष्ण । उमापतिहि-रिपु=कामदेव । बन-रिपु=अग्नि ।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से ।

भावार्थ हे सखी ! रात्रि में राधा सुंदर श्रृंगार किये हुए थी । सिंह जैसी कटि और गज-सूंड जैसी जंघाओं पर केलि की मधुर स्थली बनी हुई थी । अथवा नायिका के अंगों पर सिंह और गज ने अपनी स्वाभाविक शत्रुता भुला कर अपनी क्रीड़ास्थली बना ली थी । वहीं कीर (नासिका), कपोत (कंठ), भ्रमर (अलकावलि) और कामदेव की रेखा रूपी भौंहें शोभायमान थीं । ऐसी देवबाला के मुख-चंद्र पर बिंबाधर शोभायमान थे । (उसने) पपीहा के पी शब्द को सुन कर स्वर्ण-खंभ रूपी देह पर सोलह श्रृंगार किये और काम की इच्छा करने पर और अधिक पीड़ित हुई । फिर सार को ग्रहण करके सात पर (२ पद, २ कर, २ नेत्र, १ मुख) श्री कृष्ण के साथ केलि की । श्री कृष्ण राधा से मिले, जिससे उसके तन, मन और रोम-रोम में शीतलता भर गई ।

पा०—ना. प्र. तंबा । (२) सत ।

* ना. प्र. परि., २४–७३ । वें. २६६-६८ ।

अलंकार—

१. वाचक-धर्म-लुप्ता—

'मृग-रिपु लंक'। इसमें वाचक और साधारण धर्म का लोप है।

२. रूपकातिशयोक्ति—

'कीर०...रेख'। इसमें केवल उपमान ही उपमान है।

रस—श्रृंगार रस, संभोग श्रृंगार।

(७७)

राग मलार

राधे, तेरौ रूप न आन सौ।

सुरभी-सुत-पति ताकौ भूषन उदित न पूजै भान सौ॥

अमी रसाल कोकिला साधै, अंबुज-चित कुम्हलान सौ[1]।

बिद्रुम अधर दसन दाड़िम-बिजु, भ्रकुटी किऐं सुठान सौ।

सूरदास प्रभु सौं कब मिलि हौ, सुफल रूप कल्यान सौ॥*

शब्दार्थ—आन = अन्य, दूसरा। सौ = समान। सुरभी०... भूषन=सुरभी गाय, पुत्र बैल, पति महादेव, भूषन चंद्रमा। अमी=अमृत।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से।

भावार्थ—हे राधा! तेरा रूप दूसरों के समान नहीं है, अर्थात् तेरा रूप सबसे निराला है। चंद्रमा और अरुणोदय का सूर्य भी उसकी समता नहीं कर सकते। अमृत, आम, कोकिल तेरी वाणी की साधना करते हैं और मुख को देख कर कमल मुर्झा जाते हैं। तेरे अधर विद्रुम और दाँत अनार एवं विद्युत जैसे हैं। भृकुटी भी सुंदर ही बनाई है। (अब तुम यह बताओ कि) श्री कृष्ण से जो (तुम्हारे) रूप को सफल और कल्याणकारी बनाने वाले हैं, कब मिलोगी।

अलंकार—

१. प्रतीप चौथा—

सुरभी०......भान सौ।

यहाँ चंद्रमा और सूर राधा के रूप की समता नहीं कर सकते, इसमें चतुर्थ प्रतीप अलंकार हुआ।

पा०—(१) वें. अंकुर अभिराम सौ।

* ना. प्र, परि. ३०-६७। वें. ४०४-२५। बाल. ५३-४१।

लक्षण—

उपमेय की उपमान जब, समता लायक नाहिं।
अति उत्तम दृग मीन से, कहे कौंन बिधि जाँहि॥
(काव्य-प्रभाकर)

२. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा—

बिद्रुम०……बिजु।

इसमें बिद्रुम और दाड़िम उपमान तथा अधर और दसन उपमेय हैं, किंतु वाचक और साधारण धर्म का लोप है। इस लिये वाचक-धर्म लुप्तोपमा अलंकार हुआ।

रस—शृंगार रस, दूती द्वारा नायिका की प्रशंसा करके नायक से मिलाना अभिप्रेत है।

टिप्पणी—

बालकिशन ने इस पद का पाठ इस भाँति दिया है—

राधे तेरी उपमा नाहिने आन सों।
सिंधु सुता पति ता सुत धन उदित न पूजै भान सों॥
मीन रसाल कोकिल सुर साधें अंबुज चित अभिमान सों।
बिद्रुम अधर दसन दरक्यो कन न्याय भृकुटि किये ठान सों।
सूरदास प्रभु हरि जब मिलि हैं सुफल रूप कल्यान सों॥

(७८)

राग देवगंधार

आजु तोहि काहे आनँद थोर।
यै बिपरीत सखी तोहिं[1] महियाँ, इंदु कंज[2] इक ठौर॥
हरि द्रावन[3] संतत अधिकारी, जा बिधि[4] चंद चकोर।
दधि-ग्रह जुगल बनावत क्यौं नहिं, बिगसित अंबुज भोर॥
कंपित स्वास त्रास अति मोकति, ज्यौं मृग केहरि कोर।
सूरदास स्वामी रति नागर, तौंन हर्यौ मन तोर[5]॥ *

पा०—(१) वें. तो, (२) बिंदु, (३) दावन। (४) ना. प्र., वें. ज्यौं। (५) ना. प्र. मोर।
* ना. प्र. परि., २६-६४। वें. ३६७-६२। बाल. ५७-४५।

शब्दार्थ—दधि=उदधि, समुद्र, संज्ञा सात। ग्रह=नव ग्रह, संज्ञा नौ। मोकति=छोड़ती है। कोर=किनारा, समीप। तौंन=उन्होंने। तोर=तेरा।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—आज तुम्हें कम आनंद क्यों हो रहा है (अर्थात् तू प्रसन्न क्यों नहीं दिखाई पड़ रही है)। हे सखी! यह विपरीत बात तुझी में दिखाई पड़ रही है कि चंद्रमा और (विकसित) कमल एक ही स्थान पर हैं (भाव यह है कि नायिका अपना मुख-चंद्र अपने हाथ पर रखे हुए कुछ विचार-मग्न बैठी हुई है। उसी दृश्य को देख कर सखी कहती है कि यह विलक्षणता तुझी में दिखाई पड़ रही है कि चंद्रमा के समीप भी कमल खिला हुआ है, अथवा तेरा हृदय-कमल कृष्णचंद्र के पास है)। कृष्ण को द्रवीभूत करने को तू सदा ही से उपयुक्त पात्र है, अर्थात् कृष्ण तुझको देख कर मोहित हो जाते हैं, जिस प्रकार चकोर चंद्रमा को देखकर। इसलिए तू अपने सोलहो शृंगार दूने-दूने (चाव से) क्यों नहीं करती? और प्रातःकाल के कमल की भाँति क्यों नहीं प्रफुल्लित होती? तू डर से काँप कर साँसें छोड़ रही है, जिस प्रकार मृग सिंह के पास हो। (इन बातों से मैं भली भाँति समझ गई हूँ कि) रतिनागर कृष्ण ने ही तेरा मन हरण कर लिया है।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

(अ) इंदु कंज इक ठौर। इसमें केवल उपमानों का ही वर्णन है।

२. उदाहरण—

(अ) हरि०......चकोर।

(क) कंपित०........ कोर।

रस—शृंगार रस, नायिका लज्जिता।

टिप्पणी—

१. बालकिशन ने इस पद का पाठ और अर्थ इस प्रकार दिया है—

आज तोहे काहे न आनँद थोर।

यह अचरज सखि तोहि पै पहियाँ. बिधु अनुराग चकोर॥

दधि ग्रह जुग्म क्यौं न तू बनावत, मुकलित अंबुज भोर।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि हरि जु लियो मन तोर॥

अर्थ— सखी की उक्ति नायिका सों। नायिका ने हित कियो सो लज्जित सखी

कों भयो है, तातें हेतु लक्षिता नायिका है आज तोहि नित्य की रीति थोर अल्प आनंद नहीं है। बहुत ही आनंद है सो क्यौं होय यह आश्चर्य तोही में पैयत है जो तेरो मुख बिधु नायक जो चकोर है तिन सों अनुराग है। उपमा में आश्चर्य है उपमेय में उचित ही है। जो तेरो हृदय स्नेह कों मुख चंद पै झलक रह्यौ है। सो लक्षिते में आवे है। अथवा तेरे मुख बिधु पै नायक के नयन चकोर अनुरागे हैं। सो मैंने जान पायो तापैं तुम छिपावत हो यही आश्चर्य है। १। दधि समुद्र ७, ग्रह ९ मिले सोरह भये याके दूने बत्तीस जो लच्छन सो तो में हैं। तामें छिपाय वे कौ जो लच्छन सो मो सो क्यों न बतावत है परंतु प्रात समैं अंबुज प्रफुलित है सो छिप्यो न रहै अथवा मुकलित अंबुज भोर सौं यह बात तो मो सो प्रकट होय गई। तातें नव सत जो सोरह श्रिंगार सो दूने दूने क्यों नहीं बनावत है। अर्थ तो आगे स्पष्ट है।

२. ना० प्र० वाली पुस्तक में तीसरी पंक्ति में 'ज्यौं'' पाठ है जिसका अर्थ जैसे या जिस प्रकार होता है। फिर इसमें बिधि की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु बिधि शब्द को पृथक् करने से दो मात्रा कम हो जाती हैं जिससे छंद भंग हो जाता है। निश्चय ही इन दोनों शब्दों में से एक परिवर्तन चाहता है। इसी लिए हमने 'ज्यौं' का 'जा कर दिया है जिससे अर्थ तथा छंद की दृष्टि से पद ठीक हो जाता है।

इसी प्रकार अंतिम पंक्ति में भी अर्थ-संगति की दृष्टि से 'मोर' के स्थान पर 'तोर' होना चाहिये।

(७९)

राग बिलावल

धर-सुत सहज बनाउ किए।
जल-सुत-सुत ताकौ सुत-बाहन, ते तिरिया मिलि सीस दिए ॥
सुर-भष-रिपु-बाहन के बाहन, सुरपति मित्र के सीस निए।
ताहि मध्य राजत कंठावलि, मनौं नव ग्रह गुदरि दिए ॥
सुंदरता सोभा की सींवाँ, बसै सदाँ यै ध्यान हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, कह इहिं बिनु सत कल्प जिए ॥ *

शब्दार्थ—धर-सुत=धर पृथ्वी, पुत्र मंगल, अथवा धर-सुत सर्प जैसे केश।

* ना. प्र. परि. ३०-९६।

जल०...**तिरिया**=जल-सुत पंक, पुत्र पंकज, पुत्र ब्रह्मा, वाहन हंस=जीव=बृहस्पति उसकी स्त्री तारा=सितारे। **सुर-भष०**...**बाहन**=सुर-भष बंसी, रिपु मीन, वाहन जल, वाहन पोत=पोत माला। **सुरपति०**...**सीस**=सुरपति इंद्र, मित्र मेघ। **पयोधर**=मेघ कुच, कुच के सीस, कुच के ऊपर। **गुदरि**=हाजिरी।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—(श्री राधा) ने मांगलिक वेष बनाया हुआ है, अथवा केश स्वाभाविक रूप से सँभाले हुए हैं। सितारे सिर में लगाये हैं। कुचों पर पोतों की माला शोभायमान है। उसके बीच में कंठावलि ऐसी प्रतीत होती है मानों नव-ग्रह हाजिरी दे रहे हों। यह सुंदरता की सीमा रूप जो (राधा की) शोभा है वह सदा हमारे ध्यान में रहे। सूरदास कहते हैं कि इस प्रकार (दर्शन-सुख को पाकर) एक पल भी धन्य है, अन्यथा सौ कल्प जीवित रहने से क्या (लाभ) है।

अलंकार--

वस्तूत्प्रेक्षा—उक्तास्पद—

'ताहि०....दिये।' यहाँ कंठावलि और नव ग्रह दोनों ही उक्त वस्तुओं की उत्प्रेक्षा है। इसलिए उक्तास्पद वस्तूत्प्रेक्षा है।

रस—शान्त रस।

(८०)

राग बिलावल

हरि कित[1] भए ब्रज के चोर।
तुम्हारे मधुप बियोग, उनके[2] मदन की झकझोर॥
इक[3] कमल पर धरे गज-रिपु, एक ससि-रिपु जोर।
दोउ कमल इक कमल ऊपर, जगी इक टक भोर॥
एक सखी मिलि हँसति पूछति, खैंचि कर की कोर।
तजि सुभाव[4] सु भखत नाहीं, निरखि उनकी ओर॥
बिरस रासिनि[5] सुरति करि-करि, नैन बहु जल तोर।
तीन त्रिबली मनौं[6] सरिता, मिली सागर छोर॥

पां०—(१) सर. कत, (२) राधे, (३) एक, (४) जुवाइस। (५) ना. प्र. रासिनि, (६) सर. मनहुँ।

षट कंध अधरन माल ऊपर, अजा-रिपु की घोर ।
सूर अबलन मरत ज्यावौ, मिलौ नंद किसोर ॥*

शब्दार्थ—झकझोर—बार बार झटका देना । गज-रिपु—हाथी का शत्रु सिंह जैसी कटि । ससि-रिपु=राहु, पाटी । कर की कोर=हाथ का किनारा, पहुँचा । बिरस=विमुख । षट कंध=कार्तिकेय, शक्तिधर, प्राण । अजा-रिपु=बकरी की शत्रु पत्ती, पत्री, चिट्ठी । घोर=भयंकरता ।

प्रसंग—सखी वचन उद्धव प्रति ।

भावार्थ—कृष्ण ब्रज के चोर किस प्रकार हो गये, अर्थात् उनकी सूरत ब्रज में क्यों नहीं दिखाई पड़ती । हे मधुप ! तुम्हारे लिये तो विरह (एक साधारण बात) है, किंतु वह काम के बराबर धक्का खा रही है । उसका एक हाथ कमर पर तथा एक हाथ सिर की पाटी से लगा है (विचार मग्न है) । एक कमल (मुख) पर दो (नेत्र) कमल हैं जिनसे वह टकटकी लगाये हुए (प्रतीक्षा करती हुई) प्रातःकाल तक जगी है । एक सखी उसका हाथ खींच कर पूछती है कि तू अपने (ध्यानावस्था वाले) स्वभाव को छोड़ कर उनकी ओर देख कर क्यों नहीं बोलती है ? वह उनकी याद कर करके नेत्रों से (इस भाँति) जल बहा रही है, मानो सागर छोड़ कर नदी त्रिबली (त्रिवेणी) की ओर जा रही हो । (प्रकृति के विरुद्ध कार्य हो रहा है, नदी सागर में गिरती है यहाँ सागर से निकल रही है) । चिट्ठी की भयंकरता से उसके प्राण अधरों पर आ रहे हैं । (इस लिये तुम जाकर कृष्ण से कहना कि) हे नंद किशोर ! अब उन अबलाओं से मिल कर (उन्हें) मरने से बचा लीजिये ।

अलंकार—

१ रूपकातिशयोक्ति—

इक…जोर ।

दो …. भोर ।

इसमें कमल केवल उपमानों का वर्णन है ।

२ वस्तूत्प्रेक्षा-अनुक्तास्पद—

यहाँ नैन जल की उत्प्रेक्षा सरिता से की गई जो समुद्र से निकली हो, किंतु सरिता का समुद्र से बहना अनुक्त है । इस लिये वस्तूत्प्रेक्षा अनुक्तास्पद हुई ।

---

* ना. प्र. परि. ६२-१६२ । सर. १३६-६० ।

(८१)

राग बिलावल

कहियो अति अबला दुख पावै ।
हिरन-पटन-पति प्रबिसत ज्यौं है, बार-बार समुझावै ॥
सारँग-रिपु ता पति-रिपु वा रिपु, ता रिपु तनहिं जरावै ।
हरि-बाहन-बाहन-पति-धाइक, ता सुत आन बचावै ॥
सुर-रिपु-गुरु-बाहन ता रिपु पति, ता चढ़ि भेष दिखावै ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, बिरहिनि तपति बुझावै ॥ *

शब्दार्थ—हिरन०···पति = मृगों के नगर का पति सिंह । सारँग०··· रिपु = सारँग सर्प, रिपु गरुड़, पति कृष्ण, शत्रु इन्द्र, रिपु महादेव, अरि कामदेव । हरि०···सुत = हरि बंदर, वाहन वृक्ष, वाहन पृथ्वी, पति शेष, शेष वना धाइक जिसका, ऐसा कृष्ण । सुर०···चढ़ि = सुर-रिपु दैत्य, गुरु शुक्र, वाहन घोड़ा, रिपु हाथी, पति इंद्र जिस पर चढ़ता है—मेघ ।

प्रसंग—गोपी वचन उद्धव प्रति ।

भावार्थ—हे उद्धव ! हम तुमको बार-बार समझा कर कह रहीं हैं कि तुम (कृष्ण से जाकर) कहना कि जिस प्रकार हिरणों के नगर में सिंह के प्रवेश करने से दुःख होता है, उसी प्रकार हम अबला भी (विरह रूपी सिंह के आने पर) दुःख पा रही हैं । काम हमारी देह को जला रहा है और (उस कामाग्नि से) श्रीकृष्ण ही आकर हमको बचा सकते हैं । बादल भी अपने भेष को धारण कर रहे हैं । (वर्षाकाल समीप है) इस लिये तुम्हारे मिलने से ही विरही हृदय की ज्वाला शांत हो सकती है ।

अलंकार—

उदाहरण—

हिरन०···ज्यौं हैं ।

इसमें उदाहरण द्वारा 'अबला अति दुख पावै' इस सामान्य से निरूपित अर्थ को भली-भाँति समझाने के लिये उसका एक विशेष रूप दिखाया गया है । इस लिए उदाहरण अलंकार है ।

(काव्य कल्पद्रुम)

---

* ना. प्र. परि. ७२-२२४ ।

(८२)

राग बिलावल

(अहो) दधि-तनया-सुत-रिपु-गति गमनी सुनि बृषभाँनु दुलारी ।
दादुर-रिपु-रिपु-पतिहिं पठाई, सोचित भेष बिचारी ॥
अलि-बाहन-रिपु-बाहन रिपु की, तपति भई अति भारी ।
सोच सम्हारि प्रभू खेदति हैं[1], हौं बलि जाउँ तिहारी ॥
मारुत सुत-पति-रिपु-पति-पतनी ता सुत-नारि बिसारी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, क्यौं[2] हठि होत हत्यारी[3] ॥*

शब्दार्थ—दधि०...गमनी-दधि तनया सीपी, उसका पुत्र मुक्ता, शत्रु हंस-गमनी, हंस की सी चाल वाली ! दादुर०...पतिहिं=दादुर-रिपु सर्प, रिपु गरुड़, पति कृष्ण । अलि०...रिपु=अलि वाहन कमल, रिपु चंद्रमा, वाहन शिव, रिपु कामदेव । मारुत०... नारि=मारुत सुत हनुमान, पति राम, रिपु रावण, पति शिव, पत्नी पार्वती, पुत्र गणेश, नारि बुद्धि ।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से ।

भावार्थ—हे हंस-गामिनी राधा ! श्री कृष्ण मुझे यहाँ भेज कर, तेरी वेष-भूषा के संबंध में विचार कर रहे हैं । वे कामाग्नि से जल रहे हैं, तुम्हारी याद में सोच में पड़े हुए दुख पा रहे हैं । मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ । तू बुद्धि को छोड़ कर (कुबुद्धि से) हठ के कारण क्यों हत्यारी बन रही है ? (अर्थात् यदि तू मान छोड़ कर नायक से नहीं मिलेगी तो उसकी मृत्यु हो जायगी और तुझे हत्या लगेगी इससे तू उनसे चल कर मिल) ।

अलंकार—

समुच्चय—

'सोचि०...हैं' । इसमें सोचि, सम्हारि खेदन भावों का एक साथ समुच्चय है ।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती ।

पा०—(१) बाल. सो निवारि चलि प्रान पियारी, (२) क्यौं, (३) सूरदास स्वामी पीदत है किते होत हृदयारी ।

* ना. परि० ८१-२५४ । बाल, २१-१४ ।

(८३)

राग बिलावल

सारँग-सुत-पति-तनया के तट, ठाढ़े नंद कुमार ।
बहुत तपत जा रासि में सबिता, ता तनया संग करत बिहार ॥
गुड़ाकेस-जननी-पति-बाहन, ता सुत के अँग सजे सिंगार ।
चंद चौहत्तर, आठ हंस, द्वै व्याल, कमल बत्तीस बिचार ॥
एक अचंभौ और बताऊँ, पाँच चंद दबे कमल मँझार ।
सूरदास इहिं जुगल रूप कौं, रे मन राखि सदाँ उर धारि ॥*

शब्दार्थ—सारँग०···तनया=सारंग जल, सुत कमल, पति सूर्य, पुत्री यमुना। बहुत०···तनया=जिस राशि में सूर्य बहुत तपता है ऐसी राशि वृषभ, ताकी तनया बृषभानुजा, राधा। गुड़ाकेस०···सुत=गुड़ाकेस अर्जुन, माता कुंती, पति इंद्र, वाहन हाथी, गज पुत्र, गज मुक्ता। हंस=सूर्य जैसे कर्णफूल।

प्रसंग—सखी का बचन सखी से। श्री कृष्ण त्रिभंगी रूप से राधा सहित यमुना किनारे खड़े हैं, उसी का वर्णन है।

भावार्थ—यमुना किनारे राधा के संग खड़े हुए कृष्ण विहार कर रहे हैं। अंग पर गज-मुक्ताओं के आभूषण हैं। चौहत्तर चंद्रमा (चालीस नख चंद्र राधा-कृष्ण के, उसमें से कृष्ण के पाँच नख-चंद्र दूसरे पैर से दबे होने से कम हुए पैंतीस और दो मुख-चंद्र कुल सैंतीस, इनका प्रतिबिंब, कुल चौहत्तर) आठ सूर्य रूपी कर्णफूल (चार प्रिया-प्रीतम के प्रत्यक्ष और चार प्रतिबिंब), दो व्याल (प्रिया जी के वेणी और उसका प्रतिबिंब) और बत्तीस कमल हैं (२ चरण, २ कर, २ नेत्र + १ हृदय, १ मुख कुल आठ, प्रिया-प्रीतम के सोलह और प्रतिबिंब सोलह से बत्तीस हो गए)। इसमें एक आश्चर्य और भी है कि एक कमल से पाँच चंद्रमा दबे हुए हैं, अर्थात् एक चरण कमल से पाँच नख-चंद्र दबे हुए हैं। सूरदास कहते हैं कि हे मन! इस प्रकार के युगल रूप का सदा ध्यान धर।

अलंकार—

रूपकातिशयोक्ति—

इस पद में चंद, हंस, व्याल, कमल केवल उपमानों का ही वर्णन है।

रस—रस शृंगार। रस, संभोग शृंगार।

---

* ना. प्र. परि०८१-२५५। बाल. ४४-३१।

(८४)

छिनु पल रावरे की आस।
करन नाव सु पंच संग्या, जान कैं सब नास ।।
भूमि-धर-अरि-पिता बैरी, बाँध राखी पाँस।
सिंधु-सुत-धर-सुहित-सुत, गुन गहकि कोप्यौ गाँस ।।
भानु अंस गिरीस आखर, आदि अंग प्रकास।
सूर फिर-फिर सूर-सुत की परन चाहत पास ।।*

शब्दार्थ—करन०…संज्ञा = पंच बसु=चालीस=मन । भूमिधर०… बैरी= भूमिधर अरि कार्तिकेय, पिता शिव, बैरी कामदेव। सिंधु०…गुन=सिंधु सुत चंद्रमा, धारणकरनेव ले शिव, हितू कृष्ण, सुत कामदेव=स्मर=स्मरण । भानु०… आखर = भानु का भ, अस का अ=भा, गिरीस का ग और आखर का आ मिला कर हुआ भाग आ । सूर-सुत=यम ।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

भावार्थ—नायिका को प्रति पल और क्षण आपका ही सहारा है। उसके मन ने जान बूझ कर उसका सर्वस्व नाश कर दिया है। कामदेव ने उसे बंधन में बाँध लिया है और तुम्हारी स्मरण रूपी डोर ने उसे जड़क लिया है। उसके पास आप शीघ्र आवें अन्यथा यम की पाश उसे पड़ना ही चाहती है। (इसका आशय यह है कि आपके विरह में उसे सभी कष्ट देने वाले बने हुए हैं, यदि आप जाकर उसे दर्शन नहीं दोगे तो उसकी मृत्यु हो जायगी)।

रस—शृंगार रस, सखी द्वारा विरह निवेदन।

(८५)

सुंदर स्याम सोभा देख।
बार ससि के आदि, कोटनि कोटि लाजन लेख ।।
मीन-रिपु के सुत्र गुन मन गहत बरबस आन।
चलत सरतन की सम्हारै, खचर खेलन बान ।।
बिकट भ्रकुटी मुकट लटकन, सुकटि सोभा सोय।
सूर बलि-बलि जात तन मन, तपत तीखन धोय ।। †

---

* सं० १३५–५४। † सर० १३६.५६।

शब्दार्थ—बार०·· आदि=बार, जल=कः का 'का' ससि मयंक। का 'म' मिला कर हुआ काम। मीन०···गुन=मीन रिपु वंशी, सुन्न गुन, सुन्न आकाश का गुण शब्द अर्थात् वंशी का शब्द। चलन०···बान=इसमें 'चलन०···सम्हारै का 'च' और 'खचर०·· बान' का ख मिला कर हुआ चख। इसमें चकार शरीर में बाण लगने का स्मरण दिलाता है और 'ख' खंजन के खेलने का।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—श्री कृष्ण की सुंदरता देख कर करोड़ों काम लज्जित हो जाते हैं। उनकी वंशी-ध्वनि बरबस मन को पकड़ लेती है। उनके नेत्र बाण-लगने की पीड़ा और खंजन के खेलने की याद दिलाते हैं, अर्थात् इनके कटाक्ष इतने तीक्ष्ण हैं कि मन व्याकुल हो जाता है और इतने सरल भी है कि ऐसा प्रतीत होता है कि खंजन पक्षी खेल रहे हैं। उनकी भृकुटी बंक हैं, मुकुट झुका हुआ है और ऐसी ही कटि की शोभा है, अर्थात् वह भी झुकी हुई है। कृष्ण त्रिभंगी रूप हैं। सूरदास कहते हैं कि जो तन-मन की तीक्ष्ण तपन को धोने वाले हैं वे उनकी बलिहारी जाते हैं।

अलंकार—

तुल्ययोगिता प्रथम—

'तन मन तपन तीखन धोय' इसमें तन और मन दोनों की एक ही क्रिया तपन का धोना वर्णन है।

(८६)

तुम बिनु कह्यौ कासों जाइ।
संभु-आयुध उठि करेजैं, करत बहु बिधि घाइ॥
गोप-पति लखि नरक बैरी, आन कैं अकुलाइ।
पच्छिराज सुनाथ पतनी, भोगिबौ चित चाइ॥
पाँय-तोय निहारि कबहुँ, हिलत नहिं हरषाइ।
सूर अनभल आन कौ सुनि, बृच्छ बैरि बुताइ॥*

शब्दार्थ—संभु-आयुध=शूल, दर्द। गोप-पति=नंद=आनंद। पच्छिराज०··· पतनी=पक्षीराज गरुड़, स्वामी विष्णु, पत्नी लक्ष्मी। पाँय-तोय=गंगा जी। अनभल=बुराई। बृच्छ-बैरि=अग्नि।

* सर. १३८-५८।

प्रसंग—भगवान से भक्त की प्रार्थना।

भावार्थ—हे भगवान! तुम्हारे अतिरिक्त (अपने मन की बात) किससे कही जाय। हमारे हृदय में व्यथा का दर्द उठकर अनेक प्रकार से घाव कर रहा है। (मेरी सदा से यही रीति रही है) कि किसी को भी प्रसन्न देख कर मैं व्याकुल हो जाता हूँ। मैं लक्ष्मी के भोगने की तो सदा इच्छा करता हूँ, परंतु गंगा जी को देख कर कभी हिलता भी नहीं, अर्थात् संसारिक भोग तो भोगना चाहता हूँ, परंतु धर्म में तनिक भी श्रद्धा नहीं है। दूसरों की बुराई सुन कर मैं प्रसन्न हो जाता हूँ।

टिप्पणी—

गोप-पति···अकुलाइ।

इस पर गोस्वामी तुलसीदास ने खलों की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

'परहित हानि-लाभ जिन केरे। उजरहिं हर्ष विषाद बसेरे।'

(राम-चरित मानस)

(८७)

ब्रज मैं आजु एक कुँमारि।

तपन-रिपु चल तासु पति-हित, अंत हीन बिचारि॥

सची-पति-सुत-सत्रु-पितु-मिल, सुता बिरह बिचार।

तुम बिना ब्रजराज बरसत, प्रबल आँसू धार॥

ग्वाल-बाल बिहाल आए करति कोटि पुकार।

राखि गिरधरलाल सूरज नाथ, बिनु उपचार॥*

शब्दार्थ—तपन०···हीन=तपन-रिपु हिम, उसमें मिलाया चल, हुआ हिमाचल, पति महादेव, हित वृष। सची=पति०···सुता=सची-पति इंद्र, पुत्र अर्जुन, शत्रु कर्ण, पिता भानु—यह हुआ वृषभानु + सुता हुआ वृषभानु-सुता राधिका।

प्रसंग—उद्धव वचन कृष्ण प्रति।

भावार्थ—हे ब्रजराज! आज ब्रज में राधा नाम की गोप कन्या आपके विरह में प्रबल आँसुओं की धारा बरसा रही है, जिससे व्याकुल होकर ग्वाल-बाल करोड़ों प्रकार से पुकार कर रहे हैं, अर्थात् आर्तनाद कर रहे हैं (कहने का तात्पर्य यह है कि इंद्र-कोप के समय जब उसने ब्रज को डुबाना चाहा था, तब

---

* सर १४०-६१।

आपने उनकी रक्षा की थी, किंतु अब जो राधा अपनी प्रबल आँसुओं की धारा से ब्रज को डुबाना चाहती है, उससे रक्षा का कोई उपाय न देख वे दुःख से चिल्लाते डोल रहे हैं)। (वे सब उपाय हीन हैं, इस लिये) हे गिरधर लाल! आप (ब्रज चल कर) उनकी रक्षा कीजिये।

अलंकार—

परिकरांकुर—

'राखि···उपचार'।

यहाँ 'गिरधरलाल' शब्द विशेष्य है और वह साभिप्राय प्रयोग में आया है, इस लिए परिकरांकुर अलंकार है।

टिप्पणी—इसी भाव का वर्णन 'प्रह्लाद कवि' ने 'आसुओं का समुद्र' बनाकर वर्णन किया है—

जोग दैंन गयौ हो बियोग बारि बारिध मैं,
डूबत बचौ हौं नाथ नारी नैन यौं बहैं।
इंद्र की सहस्त्र धार नयन दुधार धार,
इंद्र-कोपि नाहिं जो बचौगे गिरि कौं गहैं॥
ऐसौ सागर मैं न देख्यौ अवनी पै कहूँ
मुनिन पै न अँचौ जात नैन खोल कैं कहैं।
कहैं 'प्रहलाद' जू मिलाप सेतु बाँधौ न तौ,
बटुक बटू के पात रावरे भलैं रहैं॥

'तोष कवि' ने भी इसी भाव का वर्णन किया है—

गोपिन के अँसुवान के नीर, जे मोरी बहे बहि कैं भए नारे।
नारे भए नदियाँ बढ़ि कैं, नदिया नद तें भए फाट करारे॥
बेगि चलौ तौ चलौ उतकौं, कबि 'तोष' कहैं ब्रजराज दुलारे।
वे नद चाहत सिंधु भए, पुनि सिंधु तैं ह्वै हैं जलाहल सारे॥

उर्दू कवि 'सौदा' कहता है—

समुन्दर कर दिया नाम, उसका नाहक कह-कह कर।
हुए थे कुछ जमा आँसू, मेरी आँखों से बह-बह कर॥

(८८)

पिय-बिनु बहति बैरिन बाइ।
मदन बान कमान आयौ, करषि कोप चढ़ाइ॥

दिवस-पति सुत-मातु बौध, बिचार प्रथम मिलाइ ।
बान पलटन भानुजा-तट, निरख तन मुरझाइ ॥
आदि कौ सारंग बैरी, पट प्रथम दिखराइ ।
उदित अंगन पै अनौंखी, देखि अगिन जराइ ॥
कौंन राखन हार ब्रज, ब्रजराज बिनु अनभाइ ।
सूरदास सुजान कासौं, कहौं कंठ लगाइ ॥*

शब्दार्थ—करष=खींचकर । दिवस०...मिलाप=दिवस-पति सूर्य, उसका सुत कर्ण, माता कुंती का 'कुं' इसमें बौध मिलाने से हुआ कुं, बौध=जैन इसका जै लेने से बना कुंजै । बान पलटत=बाण सर । ताल, इसको पलटने से बना लता । आदि०...दिखराइ=सारंग—भ्रमर, बैरी चंपा, पट=दुकूल अतः चंपा का 'चं' और दुकूल का 'दु' दोनों मिलाकर हुआ चंदु=चंद्रमा ।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से ।

भावार्थ—प्रीतम (श्रीकृष्ण) के बिना बैरिन (त्रिविध) वायु चल रही है । कामदेव क्रोध करके अपना धनुष-बाण खींचकर चढ़ आया है । यमुना किनारे की कुंज और लताओं को देख कर मन मुरझा जाता है । चंद्रमा उदय होकर हमारे शरीर में आग लागादेता है । बिना श्रीकृष्ण के अब व्रज की कौन रक्षा कर सकेगा । यह बात अब मैं अपने कंठ लगाकर किससे कहूँ ।

अलंकार—

व्याघात—

आदि...दिखराइ ।

उदित...जराइ ।

जहाँ चंद्रमा संसार को शीतलता प्रदान करता है, वहाँ विरहणी को अग्नि से जलाता है ।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका ।

(८६)

बालम, बिलमि बिदेस रह्यौ री ।
भूषन-पितु-पितु-सेनापति-पितु, ता अरि अंग दह्यौ री ॥

* सर. १४१–६२ ।

सारँग-सुत-धर-भष-धर बैरी, जात न बचन सह्यौ री ।
नृपति-आदि सुत तृतिय तलफ, कहु को सक राख चह्यौ री ।।
बाजनि ते तिथि थान सँतोषी, सोई बचन कह्यौ री ।
जो आपुन हित, ब्रज हित, जग हित, कुब्जा कूर चह्यौ री ।।
कासौं कहौं सुनैं को मेरी, बिपता बीज बयौ री ।
सूरज प्रभु बिनु मो कहँ बैरी, सब सुख जहर भयौ री ।। *

शब्दार्थ—बिलम=किसी के प्रेम-पाश में पड़ कर रुक रहना। भूषन०… अरि=भूषन अंगद, पिता बालि, उसका पिता इंद्र, सेनापति कार्तिकेय, पिता शिव, उनका अरि कामदेव। सारँग०…बैरी=सारँग समुद्र, पुत्र चंद्रमा, उसको धारण करने वाला शिव, उनका भष विष, उसको धारण करने वाला विषधर, सर्प, शत्रु मोर। नृपति०…तृतिय=नृपति—भूपति का भू मिलाया सुत में; इसलिये भूसुत अर्थात् मंगल हुआ, मंगल से तृतीय बृहस्पति=जीव। बाजिनि०…थान= बाजनि, अश्वनि (अश्वनी) से तिथि थान —पंद्रहवाँ स्थान स्वाँति।

प्रसंग - नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—हमारे प्रियतम किसी के प्रेम में पड़ कर परदेस में जा बैठे हैं और यहाँ चंद्रमा हमारे शरीर को जला रहा है। मोर की बोली नहीं सही जाती, जीव तड़फड़ा रहा है। उसकी चाहना करके भी उसे कौन रोक सकेगा। स्वाँति के जल से ही संतोष करने वाला पपीहा पी-पी शब्द कहता है, वही तुम भी मुझसे कहो (अर्थात् मेरे प्रियतम के संबंध में ही मुझसे कहो)। जो मेरा प्रेमी है, ब्रज का प्रेमी है और संसार का प्रेमी है, वही कुटिल कुब्जा को चाह रहा है (अर्थात् हम जिसको चाहते हैं वही किसी और को चाहता है) मैं किससे कहूँ, मेरी कौन सुनेगा, मेरे लिये तो दुःख का बीज बुव गया है। श्री कृष्ण के बिना अब हम किसको बैरी कहें। हमको तो ये सभी सुख बिष-तुल्य हो गये हैं।

अलंकार—

व्याघात

भूषन०…दह्यौ री।

यहाँ चंद्रमा जो सबको सुख देता है वही नायिका को जलाता है।

रस—शृंगार रस, नायिका प्रोषितभर्तृका।

* सर. १४२—६३।

टिप्पणी—

जो···चह्यौ री।

इसको रहीम ने निम्न रीति से लिखा है—

"मेरौ मन तौ तोहिं सौं, तेरौ मन कहुँ और।
कहु 'रहीम' कैसैं निभै, एक चित्त द्वै ठौर।"
(रहीम सतसई)

(९०)

राग नट

जनि कर जलज पर जलजात।
धातु-पति-दाहन तिहारौ, सकल लोक सिहात॥
रिस पयोधि निधान सौं, कुरुराज छोड़ सुभाइ।
सूर-सुत सिख सुनि सखी री, रबि इंदु अंस बनाइ॥
साठ अष्ट हैं चरन जाके, कत हिऐं दुख देत।
क्यौं न गिरजा-नाथ-अरि-तिय, मानि सब सुख लेत॥
लाल संग मराल-भोजन, माल करिऐ दूर।
सूर श्री मनमोहनैं भजि, भोग भामिनि भूर॥*

शब्दार्थ - जलज = कमल; मुख-कमल। जलजात=कमल; हस्त-कमल। धातु-पति-दाहन=धातु-पति सोना, दाहन सुहागा=सुहाग; सौभाग्य। सिहात=प्रसन्न होता है। पयोधि-निधान=समुद्र में है घर जिसका ऐसे विष्णु=कृष्ण। कुरुराज० ···सुभाय=कुरुराज दुर्योधन का सुभाव अभिमान को त्याग। सूर-सुत=कर्ण—कान। इंदु=चंद्रमा की सोलह कला, अर्थात् सोलह शृंगार। रबि=सूर्य, सूर्य की बारह कला, अर्थात् बारह आभूषण। अंस=कला। साठ=संवत्। साठ अष्ट = संवत् में आठवाँ संवत् श्रीमुख, अथवा साठ अष्ट, अड़सठ। गिरजा०······ तिय=गिरजा के नाथ शिव, अरि कामदेव, तिय रति। मराल-भोजन=मुक्ता।

प्रसंग—सखी का वचन नायिका से।

भावार्थ—तू हाथ पर मुख रखकर मत बैठ (अर्थात् सोच मत करे)। तेरे

---

* बाल. ११-६।

सौभाग्य को देखकर सभी लोग प्रसन्न होते हैं। तू कृष्ण से क्रोध और अभिमान का स्वभाव छोड़ दे। हे सखी! तू मेरी शिक्षा ग्रहण कर। सोलह शृंगार और बारह आभूषण धारण कर। जिनके चरणों की सेवा लक्ष्मीजी करती हैं, उनको तू क्यों दुःख दे रही है (तात्पर्य यह है, कि जो इतने महान् हैं वह तेरी चाहना कर रहे हैं, फिर भी तू उनके पास न जाकर उन्हें दुःख दे रही है) अथवा अड़सठ तीर्थ जिनके चरण हैं, अर्थात् चरणों की सेवा करते हैं, उन्ही को तू अपराधी मान बैठी है (वह क्या कभी अपराधी हो सकते हैं?) फिर तू क्यों उनके हृदय को दुखा रही है और नायक से रति मान कर सुख क्यों नहीं प्राप्त करती? (अर्थात् यहाँ तू बैठी दुख पारही है और वहाँ वह दुख पारहे हैं)। हे भामिनी! मुक्ता की माला जो तुम दोनों के हृदय से हृदय मिलने में बाधक होगी, उसे दूरकर और मनमोहन के पास चलकर अनेक भोगों को भोग।

अलंकार—

१. रूपकातिशयोक्ति—

'जलज पर जलजात' केवल उपमान ही हैं।

२. परिकरांकुर—

'भामिनि' शब्द विशेष्य साभिप्राय है।

रस—शृंगार रस, नायिका मानवती।

टिप्पणी—१. 'केशवदास' ने निम्न-लिखित सोलह शृंगार माने हैं—

प्रथम सकल सुचि मंजन अमल बास,
जाबक सुदेस केस-पास कौ सुधारिबौ।
अंग-राग भूषन बिबिध मुख बास राग,
कज्जल कलित लोल लोचन निहारिबौ॥
बोलनि, हँसनि चित चातुरी चतुर बास,
पल-पल प्रीत पतिब्रत प्रति पारिबौ॥
'केसौदास' सबिलास कहत प्रबीन राय,
यह बिधि सोलह सिंगार हूँ सिंगारिबौ॥

(रसिक प्रिया)

२. बारह आभूषण के नाम 'भगवत कवि' ने इस प्रकार लिखे हैं—

कुंडलिया—नूपुर, बिछिया, किंकंनी, नीबी बंधन सोय।
कर मुंदरी, कंकन, बलय, बाजूबँद भुज दोय॥

बाजूबँद भुज दोय, कंठ श्री दुलरी राजै।
नासा बेसर सुभग, स्रवन ताटंक बिराजै॥
'भगवत' बेंदीं भाल, माँग मोंती गुहि ऊपर।
द्वादस भूषन अंग, नित्य प्यारी पग नूपर॥

३, चंद्रमा की सोलह कलाओं के नाम—

(१) अमृता (२) मानदा (३) पूषा (४) पुष्टि (५) तुष्टि (६) रति (७) धृति (८) शशनी (९) चंद्रिका (१०) कांति (११) ज्योत्स्ना (१२) श्री (१३) प्रीति (१४) अगंदा (१५) पूर्णा और (१६) पूर्णामृता।

४. सूर्य की बारह कलाओं के नाम—

(१) तपिनी (२) तापनी (३) धूम्रा (४) मरीचि (५) ज्वालिनी (६) रुचि (७) सुषुम्णा (८) भोगदा (९) विश्वा (१०) बोधनी (११) धारिणी और (१२) क्षमा।

५. भामिनी—यहाँ भामिनी शब्द का अर्थ स्वार्थिन के रूप में ही लिया गया है। यह सखी की कटूक्ति है कि तू इतनी स्वार्थिन है कि दूसरे के दुःख की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देती। नंददास ने भी एक प्रसिद्ध होली की धमार में इस शब्द का प्रयोग किया है—

अरी ! चलि नवल किसोरी, गोरी, भोरी, होरी खेलन जाँय।
लखि ऐसी जामिनि, तोहि क्यौं कामिनि, भामिनि भवन सुहाँय॥

विहारी ने भी गमष्यत्पतिका नायिका में इसी भामिनि शब्द का प्रयोग किया है—

"बामा, भामा, कामिनी, कहि बोलौ प्रानेस।
प्यारी कहति न लाज हीं, पावस चलत बिदेस॥"

(६१)

राग बिहागरौ

भजि मन, दधि-सुता-पति चरन।

देव-गुरु कौ अवनि सुत ही, सदाँ चाहै करन॥
खेचरी जिय जान बन मैं, जाति जातक मरन।
सक्र-बाहन कंठ-भूषन टूट, भुव पर परन॥

हंस-सुत-रिपु-सुत के सुत की, जठर रच्छा करन ।
सत्य सुत-सुत तासु पत्नी, परम चिंता हरन ॥
दच्छ-सुता-पति साप तैं भई, बज्र तन उद्धरन ।
सूर के प्रभु सदा सहायक, बिस्व पोषन भरन ॥*

शब्दार्थ—दधि-सुता-पति=श्री कृष्ण । अवनि-सुत-मंगल । खेचरी=पत्ती, टिटिहरी । जाति-जातक=बच्चे की जाति, अंडे । सक्र०··· भूषन=सक्र इंद्र, वाहन हाथी, कंठ-भूषन घंटा हंस०···सुत=हंस सूर्य, सुत कर्ण, शत्रु अर्जुन, पुत्र अभिमन्यु, पुत्र परीक्षित । सत्य०···पत्नी=सत्य सत्यवती, पुत्र व्यासजी, पुत्र पांडु=पांडव-पत्नी द्रौपदी । दच्छ-सुता=अहिल्या । बज्र=पत्थर ।

प्रसंग—कवि द्वारा मन को प्रबोध ।

भावार्थ—हे मन ! यदि तू जीव की मंगल कामना चाहता है, तो कृष्ण का भजन कर । टिटिहरी ने बनमें अपने अंडों की मृत्यु निश्चित समझ कर भगवान से प्रार्थना की, तभी हाथी का घंटा टूट कर पृथ्वी पर उसके अंडों पर गिर गया और इस प्रकार भगवान की अनुकंपा से उसके बच्चों की रक्षा हो गई । गर्भ में परीक्षित की रक्षा की, द्रौपदी की (चीर बढ़ाकर) चिंता दूर की और अहिल्या का, जो पति के शाप से पत्थर हो गई थी, उद्धार किया । वे प्रभु विश्व का पोषण करने वाले तथा सदा सहायता करने वाले हैं (इस लिये तू उनका भजन कर) ।

(९२)

राग बिहागरौ

राधे, मान मनायौ मेरौ ।
रवि-सारथी-सहोदर कौ पति, मारग देखत तेरौ ॥
मारुत-सुत-पति-अरि-पति-रिपु-दल, दियौ आन तहँ घेरौ ।
हरि-पद-जल-बाहन-गढ़ तेरौ, तामैं देहु बसेरौ ॥
बिहँसि उठी बृषभानु नंदनी, कीनौं जतन घनेरौ ।
सिंधु-सुता-सुत कियौ सूर बस, जे हुतौ अधिक अनेरौ ॥†

शब्दार्थ—रवि०···पति=रवि-सारथी अरुण, सहोदर गरुड़, पति विष्णु=कृष्ण । मारुत०···दल=मारुत सुत हनुमान, पति राम, अरि रावण, पति महादेव

---

* बाल. १९-१२ । † सर. २२-१५ ।

रिपु कामदेव का दल। हरि-बाहन=हरि-पद-जल गंगा, वाहन शिव, कुच शिव। सिंधु-सुता-सुत=कामदेव। अनेरौ=ऊधमी, टेढ़ा।

प्रसंग—सखी का वचन राधा से।

भावार्थ—हे राधे! मैं तुझको मना रही हूँ, तू मान जा। श्री कृष्ण के चारों ओर कामदेव के दल वसंत ने (चढ़ाई कर) घेरा डाल दिया है। (इस लिए) उनको अपने कुच रूपी गढ़ में स्थान (शरण) दो, अर्थात् हृदय से लगा कर काम-पीड़ा से मुक्त करो। यह सुन कर राधा उठ कर चल दी और अनेक यत्नों से कामदेव जैसे योद्धा को बस में कर लिया, जो बहुत ही टेढ़ा था।

अलंकार—

परंपरित रूपक—

'मारुत०…बसेरौ'।

कामदेव की सेना से कृष्ण के घिर जाने के कारण राधा के कुच में गढ़ की स्थापना की गई, इस लिए परंपरित रूपक है।

रस—शृंगार रस, सखी द्वारा मान मोचन।

(६३)

राग कान्हरौ

नैंकु सखी, सारँग ओट कर, इंदु-बदन सर-तन कत आनत।
दधि-सुत-धरनि, देखि बाहन-बिधु, जल तजि मृगपति अति मन ठानत॥
रति जु देखि अपनौं तन निंदति, नैंसुक भौंह कुसुम सर तानत।
निरखि रूप सोभा की सीमा, गई सकुच मन मैं बिलखानत॥
कस्यप-सुत-प्रीतम सकुचत है, चक्रवाक बिछुरत निसि मानत।
कहा करै सूर मराल चाल गति, प्रफुलित कुमुद मनहिं ससि जानत॥*

शब्दार्थ—सारँग=वस्त्र। इंदु-बदन=मुख-चंद्र। दधि-सुत-धरन=पृथ्वी का चंद्रमा। बाहन-बिधु=चंद्रमा का वाहन मृग। मृगपति=सिंह। कस्यप-सुत-प्रीतम=कस्यप-सुत सूर्य, प्रीतम कमल।

प्रसंग—नायिका सरोवर पर जल भरने गई। उसके मुख-चंद्र से सूर्य का

* बाल. २८—२१।

प्रकाश मलिन होकर सरोवर पर चंद्रमा का प्रभाव पड़ने लगा। उसी को देख कर सखी नायिका से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! तू अपने मुख-चंद्र को ले कर सरोवर की ओर क्यों आ रही है, तनिक वस्त्र से उसको ओट कर ले। तेरे इस पृथ्वी के चंद्रमा को देख कर मृग जल-पीना छोड़ देते हैं (वह तेरे पास आना चाहते हैं, परंतु आते नहीं, क्योंकि) तेरी कटि को वह अपने मन में सिंह समझ रहे हैं। रति (तुम्हारी देह को देख कर) अपनी देह की निंदा करती है और कामदेव तुम्हारी भौंह को देखकर अपने धनुष को (नैंसुक) तुच्छ मानता है। शोभा की सीमा भी तुम्हारे रूप को देख कर मन में संकोच मान कर दुखी हो गई। तेरे मुख चंद्र को देख कर कमल संकुचित हो जाते हैं और रात्रि समझ कर चकवा-चकवी बिछुड़ जाते हैं। हंस तेरी चाल को देख कर सोचते हैं कि हम क्या करें (हमारी चाल नायिका के सामने तुच्छ है) और कमलिनी चंद्रमा समझ कर खिल जाती है।

अलंकार—

१. तृतीय प्रतीप—

(अ) रति०···निंदति।

(क) नैसुक०···तानन।

(च) कस्यप०···सकुचत हैं।

यहाँ उपमान में हीनता दिखाई है।

२. भ्रान्तमान्—

(अ) जल तजि०···ठानत।

कटि में सिह की भ्रान्ति हुई।

(क) चक्रवाक०···मानत।

यहाँ चक्रवाकों को मुख-चंद्र देख कर रात्रि की भ्रान्ति हुई।

(च) प्रफुलित०···जानत।

यहाँ नायिका के मुख में चंद्रमा की भ्रान्ति हुई।

३. व्यतिरेक—

'दधि-सुत-धरन'। चंद्रमा तो है, परंतु पृथ्वी का है, यही विशेषता है।

(६४)

राग बिहागरौ

सखी, ब्रज राजत एक धनी।
खेलत हैं बृंदाबन माधौ, सकल मध्य रमनी ॥
जल-सुत ता सुत ता सुत कौ सुत, ता सुत भष बदनी ।
मीन-सुता-सुत ता सुत नासा, तापर जल जमनी ॥
बिद्रुम अधर दसन दुति दामिनि, कोकिल मृदु बचनी ।
तिमि-रिपु-सुत भ्राता-पितु बाहन, ता अरि करि जु बनी ॥
पीन सानु पर अहि-रिपु राजत, टूटततरक तनी ।
सूरदास प्रभु हरषि निरख कै, बाढ़ी प्रीत घनी ॥ *

शब्दार्थ—धनी=पति । जल०…बदनी=जल-सुत कमल, सुत ब्रह्मा, सुत कस्यप, सुत सिंहका, सुत राहु, भख चंद्रमा, बदनी चंद्र-मुखी । मीन०…सुत= मीन-सुता मत्स्यगंधा, सुत व्यास जी, सुत शुकदेव शुक, तोता । जलज=मुक्ता । तिमि०…अरि=तिमि अंधकार, रिपु सूर्य, सुत कर्ण, भ्राता अर्जुन पिता इंद्र वाहन हाथी, अरि सिंह । पीन=पुष्ट, वृहत् । सानु=शिखर, कुच । अहि-रिपु= केंचुली, कंचुकी ।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से ।

भावार्थ—हे सखी ! ब्रज में केवल एक ही धनी (पति) शोभित है । वह माधव वृंदावन में समस्त रमण करने योग्य नारियों से रमण करता है । (वे रमणियाँ कैसी है) मुख चंद्रमा के समान है, नासिका शुक जैसी है जिसमें मुक्ता-मणि जटित बेसर शोभायमान है । अधर विद्रुम जैसे हैं और कोकिल के समान मधुर वाणी है, सिंह के समान कटि है, उठे हुए पुष्ट उरोजों पर कंचुकी शोभायमान है, जिसकी (प्रति पल बढ़ते हुए योवन के कारण, अथवा प्रेमाधिक्य के कारण) तनी टूट रही है । सूरदास कहते हैं कि अपने प्रभू को इस प्रकार आनंदित देख कर उनसे बढ़ी हुई प्रीति और भी अधिक हो गई ।

अलंकार—

१. वाचक-धर्म-लुप्तोपमा—

(अ) जल०…बदनी ।

* बाल. ३५–३५ ।

(क) विद्रुप०...अधर।

इसमें वाचक और धर्म का लोप है।

रस—श्रृंगार रस, संभोग श्रृंगार।

टिप्पणी—

वृंदावन के विषय में ऐसी धारणा है कि यहाँ जितने भी नर-नारी हैं, सब नारि रूप ही हैं। पुरुष तो एक कृष्ण ही है। यहाँ कृष्ण पति-रूप और भक्तों की गोपी रूप संज्ञा है। तभी तो यहाँ वृंदावन में जब मीराबाई पधारी और रूप गोस्वामी ने उनसे यह कर कि वे किसी स्त्री से नहीं मिलते, मिलना अस्वीकार कर दिया तब मीरा ने यही कहा था, "क्या वृंदावन में भी कोई दूसरा पुरुष है। मैं तो यहाँ सभी को गोपी रूप (स्त्री) ही देखती हूँ पुरुष तो एक कृष्ण ही हैं, जो सब के पति हैं।"

(९५)

राग बिहागरौ

देखि री देखि अद्भुत रूप।

स्याम घन मैं स्याम दधि-सुत, कोटि काम सरूप॥
प्रघट करि अनुराग मौंहन, सबहिं दरसन देत।
थिर दुहुँ दिसि दामिनी, यै चंद गति हरि लेत॥
अंग-अंग अनंग जीते, बन्यौं सुंदर भेष।
सूर श्री गोपाल निरखत, तजत नैंन निमेष॥ *

शब्दार्थ—दधि-सुत = चंद्रमा।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! कृष्ण के अद्भुत रूप को देख। घनश्याम के श्याम अंग में करोड़ों कामदेव की सुंदरता से युक्त श्याम मुख-चंद्र शोभा देता है और जो प्रेम प्रकट करने को सब ही को दरसन देते हैं, उनके दोनों ओर स्थिर दामिनी के सदृश गोपियाँ शोभायमान हैं, जो अपनी मुख की शोभा से चंद्रमा की गति को हरण कर लेती हैं। उनका सुंदर वेष इस प्रकार का बना हुआ है कि अंग-

---

* बाल. ४८-३७

अंग कामदेव को जीत लेता है और उनको देख कर नेत्र पलक मारना छोड़ देते हैं।

अलंकार—

१. पंचम प्रतीप—

(अ) अंग-अंग अनंग जीते।

(क) चंद गति हरि लेत।

२. व्यतिरेक—

(अ) स्याम घन में स्याम दधि-सुत।

यहाँ मुखचंद्र है, पर स्याम है यही व्यतिरेक है।

(क) थिर दुहुँ दिसि दामिनी

दामिनी है, परंतु स्थिर है यही व्यतिरेक है।

३. रूपकातिशयोक्ति—

घन, दधि-सुत, दामिनी, ये केवल उपमान ही हैं।

(९६)

राग सारंग

विधु मैं देखे बहुत प्रकार।

जलरुह कनक-लता ता ऊपर, उदयौ ढिंग मोंतिन कौ हार॥

कीर, कमठ, अलि, मृग, मनमथ-धनु, झलकत हेम तुषार।

बिंब, अनार-बीज, तड़ि-दुति मिलि, कोकिल-सब्द उचार॥

मनिधर सिखर रक्त रेखा-जुत, बिबिध कुसुम सिंगार।

मध्य प्रवाह स्वच्छ सुरसरि कौ चितवत तजत बिकार॥

सुन कैं तुम चकि चितवत मौंहन, मन मैं करत बिचार।

उदित भयौ ससि सूर स्याम हित, स्यामा बदन उघार॥*

शब्दार्थ—जलरुह=कमल, कुच कमल। कमठ=कछुआ, नेत्रों की पलक। अलि=भ्रमर, अलकावली। हेम-तुषार=बेसर का मोती।

प्रसंग—सखी का वचन नायक से।

भावार्थ—मैंने अनेक प्रकार के चंद्रमा देखे हैं (परंतु जैसा श्यामा का

---

* बाल. ५०-३६।

मुख-चंद्र है वैसा किसी का नहीं है)। उसकी स्वर्णलता (रूपी देह) पर कमल (रूपी कुच) हैं, जिनके समीप मोतियों का हार शोभायमान है। शुक (नासिका) है, कमठ (नेत्रो की पलकें) है, अलि (अलकावली), मृग (नेत्र), कामदेव का धनुष (भौंह), हेम-तुषार (मोती वाली बेसर), विंब (अधर) अनार के बीज (दंत-पंक्ति), विद्युत-कांति (हास्य) और कोयल-शब्द उच्चारण करती है (वाणी बोलती है)। शिखर पर लाल रेखा-युत मणिधर सर्प (सिंदूर से भरी हुई माँग तथा सीसफूल सहित वेणी) को अनेकों प्रकार के पुष्पों से श्रृंगार किया गया है। उसके बीच में गंगा का प्रवाह (मोती की लड़ी माँग में लगी हुई) है जिसको देखते ही समस्त विकार दूर हो जाते हैं। हे श्याम ! तुम सुन कर आश्चर्य-चकित होकर देख रहे हो (कि मैं क्या बात कह रही हूँ, तो यह मैं बताये देती हूँ) यह चंद्रमा तुम्हारे ही लिए उदय हुआ है। राधा-मुख खोल कर देख लो।

अलंकार—

१. **रूपकातिशयोक्ति—**

इस पद में केवल उपमान ही उपमानों का वर्णन है।

रस—श्रृंगार रस, आलंवन वर्णन, सखी राधा का सौंदर्य वर्णन कर कृष्ण के पास ले जाना अभिप्रेत है।

टिप्पणी—१. सूरदास ने राधा के लिये अनेक स्थलों पर 'श्यामा' (विशेषण) शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ षोडशवर्षी तथा तपे हुए सोने के रंग की युवती जो सर्वांग से शीत में सुखोष्ण और ग्रीषम में सुख शीतल होती है,लेने से विशेष चमत्कार पूर्ण हो जायगा।

२. इस पद में देह के उसी अंग का वर्णन किया गया है जो घूँघट खोल कर देखने से दिखाई पड़ता है।

(९७)

राग बिलावल

देखि री देखि, अद्भुत रीत।
जलज रिपु सौं रिपु कियौ हित छाँड़ि दई अनीत॥
कीर, कमठ, कपोत, कोकिल कियौ ढिंग-ढिंग बास।
धनुष ऊपर तिलक रेखा भयौ न रिपु कौ त्रास॥

जलज माल सुढ़ार ऊपर, निरखि मुदित अनंग।
सूर स्याम निहारि यै छबि, भई मनसा पंग॥*

शब्दार्थ—जलज०....रिपु=जलज, कमल रिपु चंद्रमा, रिपु राहु (केश)। मनसा = इच्छा।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! यह विचित्र रीति देख कि राहु ने चंद्रमा से अपना बैर छोड़ कर प्रेम किया है (अर्थात् मुख-चंद्र के पास केश शोभायमान हैं)। कीर (नासिका), कमठ (पलक), कपोत (ग्रीवा) और कोकिल (वाणी) ने पास-पास निवास-स्थल बनाया है। कमान (भृकुटी) के पास ही तिलक-रेखा का बाण, जिससे किसी भी शत्रु का भय नहीं है। मुक्ताओं की सुंदर माला जो हृदय पर शोभायमान है, उसको देख कर कामदेव भी प्रसन्न हो जाते हैं। इस छवि को देख कर समस्त इच्छाएँ पंगु हो जाती हैं, अर्थात् शांत हो जाती हैं।

अलंकार—

१. विरोधाभास—

'रिपु सौं रिपु कियौ हित'। शत्रु होते हुए भी प्रेम करता है, यही विरोध है।

२. रूपकातिशयोक्ति—

इसमें जलज, कीर, कमठ, इत्यादि उपमान ही उपमान हैं।

रस—शृंगार रस, आलंबन वर्णन।

(९८)

राग मलार

सखी री, कंत दुरंतर छायौ।
हर-भूषन-आनन सम लोचन ता अनुचर दिन आयौ॥
लेपित अनल-उच्छिष्ट दसौ दिसि, भवन अजिर सब छायौ।
तरफत चपल मेरु-अरि-आयुध, छिन-छिन प्रघट दुरायौ॥
सनमुख असिव प्रवेस प्रथम पुर, ता बाहन गुन गायौ।
मनसिज-भख सिखि-सहित मनोहर, गिरि चढ़ि गिरा सुनायौ॥
पाँच सून्य दस गुन दूने धरि, सोरह गुन बिसरायौ।
सूरदास प्रभु यहै जानि जिय, तैं बिरहनि समुझायौ॥†

---

* बाल. ५५—४३। † बाल. ६०—४७।

शब्दार्थ—दुरंतर=दूर देश। हर०···दिन=हर महादेव, भूषण सर्प=शेषजी हजार फण वाले उसी के से लोचन वाला इंद्र, उसका अनुचर मेघ, उसका दिन वर्षा-काल। अनल-उच्छिष्ट=अग्नि की झूँठन, कालिख। अजिर=आँगन। मेरु०··· आयुध=मेरु-अरि इंद्र, उसका आयुध बिजली। सनमुख०···बाहन=शुरु में प्रवेश करते ही यदि मिले तो अशुभ होती ऐसी पंक है, उसमें जो बैठा रहता है, ऐसा मेढ़क। मनसिज-भख=मयूरी (मोर के आँसू रूप वीर्य का भक्षण करने वाली)। सिखी=मोर। पाँच०···गुन=पाँच सून्य, पचास, दस गुने पाँच सौ दूने हजार सोलह गुने सोलह हजार गोप-कन्या।

प्रसंग—नायिका का वचन सखी से।

भावार्थ—हे सखी! हमारे पति (श्री कृष्ण) दूर जा बसे हैं। वर्षा ऋतु आ गई है। दस हू दिशाओं में (वर्षा की) कालिमा ने घर और आँगन भर दिये हैं, अर्थात् वर्षा के कारण चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है। बिजली तड़प रही है, कभी छिप जाती और कभी दिखाई देने लगती है। मेढ़क वर्षा के गुण गा रहे हैं। मोर-मोरनी पहाड़ों पर चढ़े हुए प्रसन्न होकर बोल रहे हैं। (ऐसे समय में) उन्होंने हम सभी सोलह सहस्र गोप-कन्याओं की सुधि भुला दी। (सखियों ने) विरहणी नायिका को इस प्रकार दुखी जान कर समझाया, अथवा हृदय में यह जान कर कि जब श्री कृष्ण ने सोलह सहस्र कन्याओं की ही सुधि भुला दी (तो इस विचारी एक की क्या है?) उन्होंने (सखियों ने) विरहणी को समझाया।

अलंकार—

कारक दीपक—

तड़फत०·····दुरायौ।

इसमें तड़फना, प्रकट होना तथा दुरना क्रियाओं के एक ही कर्ता बिजली का कथन है, इस लिए कारक दीपक है।

टिप्पणी—

१. सूरदास ने चीर हरण लीला में सोलह सहस्र गोप-कन्याओं का ही वर्णन किया है—

सोरह सहस गोप सुकमारी। सबके बसन हरे बनवारी।

❀

सोरह सहस गोप कुमारि ।
देख सबकौं स्याम रीझे रहीं भुजा पसारि ॥

२. 'लेपित···छायौ' इसका वर्णन बिहारी ने भी बड़ा सुंदर किया है—

पावस घन अँधियार महिं, रह्यौ भेद नहिं आन ।
रात द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई-चकवान ॥

३ 'सूरदास०···समुझायौ'—सूरदास ने तो यह नहीं लिखा कि विरहणी को सखियों ने क्या समझाया, परंतु 'ठाकुर' की सखी ने जो विरहणी को समझाया वह इस प्रकार है—

भूमि हरी भई गैलैं गई मिटि, नीर प्रबाह बहाव बहा है।
कारी घटा नें अँधेरौ कियौ, निसि-द्यौस में भेद कछू न रहा है।
'ठाकुर' भौंन ते दूसरे भौंन लौं, जात बनैं न बिचार महा है।
कैसैं के आवैं कहा करैं बीर, बटोही बिचारेन कौ दोस कहा है॥

(६६)

राग सारंग

रजनी बिरह बियोगिनि राधे, कर लीनैं सारँग बजावत।
हरि स्रुति-हीन तासु रिपु ता पति, ता अरि-बंधु-हितू नहिं आवत॥
हर-सुत-बाहन ता रिपु भोजन, सुत बाहन बिलमत नहिं धावत।
चलत न दधि-सुत, घटत न हरि-अरि, तातैं पानि सीस लै लावत॥
हर लिखि मदन, काग लिखि कोकिल, लिखि पन्नग पवनहिं भरमावत।
तदपि बिरह नहिं घटत भामिनी, लिखि अरधंग हरिहिं डरपावत॥
इहिं भाँतिनि बृषभानु-नंदनी, कहि-कहि कथा मनहिं समुझावत।
दीजै दरस कृपा कर स्वामी, जातैं सूर परम जस गावत॥

शब्दार्थ—सारंग=सारंगी, वीणा, एक राग । हरि०···हितू=हरि-श्रुति (कान) हीन सर्प, रिपु गरुड़, पति राम, शत्रु रावण, बंधु कुंभकर्ण, हित निंद्रा । हर०···बाहन=हर-सुत, गणेश, वाहन मूषक, रिपु बिल्ली, भोजन दधि = समुद्र-सुत चंद्रमा, वाहन मृग । हरि=चंद्रमा । अरधंग-राहु ।

प्रसंग सखी का वचन कृष्ण से, राधा की विरहावस्था वर्णन ।

भावार्थ—रात्रि के समय विरह से व्याकुल राधा वीणा हाथ में लेकर,

वाल. ६१-४८ ।

सारंग राग बजा रही है। विरह के कारण नींद (भी) नहीं आ रही। (वीणा बजाने से मृग मुग्ध होकर खड़े हो जाते हैं) चंद्रमा के मृग चलते नहीं, इस लिये रात्रि व्यतीत नहीं होती, तब वह नायिका सिर पर हाथ रख कर विचार करने लगती है। (और सोच कर उपाय करती है) यद्यपि वह कामदेव, कोयल, (त्रिविध) पवन और चंद्रमा को शिव, काग, सर्प और राहु बना कर डरा रही है, फिर भी उसका विरह कम नहीं होता। इस प्रकार से कथाऐं कह-कह कर वह (किसी भाँति) अपने मन को समझा रही है। हे स्वामी! आप उसको दर्शन दें, जिससे आपकी प्रशंसा हो।

अलंकार—

विशेषोक्ति—

हर···डरपावत।

यद्यपि यहाँ विरह के कम होने के कारण मौजूद हैं, परंतु फिर भी बिरह कम नहीं होता। इस लिए यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

रस—शृंगार रस, सखी द्वारा बिरह निवेदन।

टिप्पणी—

१ सूरदास की विरहणी राधा दुःख भूलने के लिये वीणा का सहारा लेती है, किंतु रात का अवसान न होता देख कर दूसरा मार्ग ग्रहण करती है। इसी भावना को लेते हुए एक कवि ने संयोगिनि और वियोगिनि को चंद्रमा के सामने ला बैठाया है। दोनों के भाव पूर्ण रीति से इस एक ही दोहे में दिखाई पड़ रहे हैं।

जाहु, जाहु, न जाहु कहि, दुहुँ बिधि अपजस दीन।
बिरहिन कर चीतौ लिख्यौ, संयोगिन कर बीन॥

२. सारंग—सारंग शब्द का अर्थ हिंदी-विश्व कोश में सारंगी लिखा है जो एक प्रकार की तंतु-वाद्य है। यह दो फुट के लगभग लंबा होता है। तूँबे के स्थान पर खैर की लकड़ी को पोला करके उदर बनाया जाता है, जो नीचे से चिपटा तथा ऊपर डमरू के आकार का होता है। इस उदर को चमड़े से मढ़ दिया जाता है। इसके पेट में घुड़च लगाई जाती है, जिस पर पेट के नीचे की ओर से, चार ताँत के तार खूँटियों की ओर चले जाते हैं। ये खूँटियाँ सिरे के दोनों ओर लगी रहती हैं। इसको कमान तथा नख की सहायता से बजाया जाता है। बाँये हाथ की अँगुलियों के नखों से ताँत को पार्श्व से दबा कर इच्छानुसार स्वर

उत्पन्न करते हैं। इसमें परदे नहीं होते, केवल अभ्यास से ही स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

वर्तमान काल में सारंगी के दो रूप दिखाई पड़ते हैं—एक बिना तरब वाली और एक तरब वाली बिना तरब वाली सारंगी प्रायः जोगी लोग बजाते हैं तथा तरब वाली को गुणी साजिंदे।

सारंगी का उल्लेख किसी प्राचीन संगीत-ग्रंथ में नहीं मिलता। लोक में प्रसिद्ध है कि सारंगी का निर्माण लंकापति रावण ने किया था। इसी लिए इसको रावणास्त्र या रावण-हस्त वीणा भी कहते हैं, जिसका वर्णन 'यतिमान' ग्रंथ के पाढ़ खड में मिलता है।

राजस्थान में जोधपुर के आस-पास लोग एक वाद्य बजाते हुए देखे जाते हैं, जिसको वे रावण-हत्ता कहते हैं। इसका स्वरूप सारंगी से भिन्न होते हुए भी स्पष्ट बताता है कि सारंगी का विकास इसी यंत्र से हुआ होगा। चमड़ेसे मढ़े हुए गोला के खोपड़े (जिसको ब्रज में नरेली कहते हैं) में एक बाँस का दंड लगा रहता हैं, जो एक हाथ के लगभग लंबा होता है। इसमें एक तार होता है तथा घोड़े की वाल की कमान से बजाया जाता है, कमान में चार घूँघरू बँधे रहते हैं।

'श्री पोपले महोदय' ने 'दि म्यूजिक आस हिन्दुस्तान' पृ० १०० पर लिखा है कि रावण की लंका में एक अत्यंत प्राचीन वाद्य था जो अब भी कभी-कभी वहाँ की घुम्मकड़ जाति के लोगों के पास दिखाई देजाता है। इसका पेट नरेली तथा दंड बाँस का बना होता है। इसमें दो तंतु लगे रहते हैं, एक बटे हुए पटसन का तथा दूसरा घोड़े के बटे हुए बालों का। यह घोड़े के बालों की कमान से बजाया जाता है तथा इसको 'वीनवाह' कहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन हमारे राजस्थान में प्रचलित 'रावण-हत्ता' से पूर्ण साम्य रखता है।

सूरदास ने पद संख्या ९९ और १०० के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी 'सारंग' शब्द का प्रयोग 'सारंगी' के अर्थ में नहीं किया, अपितु इसी भावना के अन्य पदों में उन्होंने बीन (वीणा) का उल्लेख किया है जैसे—

दूर न करहिं बीन कौ धरिबौ।
रथ थाक्यौ मानौं मृग मोहे, नाहिंन कहूँ चंद्र कौ टरिबौ॥

इस प्रकार यहाँ सारंग शब्द का अर्थ सारंगी न लेकर वीणा ही लिया

जाना उचित प्रतीत होता है, यद्यपि सारंगी भी एक प्रकार की वीणा ही है, जो हमारे विचार से रुद्र वीणा है (अष्टछाप के वाद्य-यंत्र पृ० १०)।

२ सारंग रागिनी—रंग स्वर्ण सदृश, जूड़ा बाँधे हुए वृक्ष के नीचे बैठी हुई गान कर रही है। यह रागिनी मेघराग की भार्या मानी जाती है और यह औड़व जाति की रागिनी है। गंधार और धैवत वर्जित हैं। सब स्वर शुद्ध लगते हैं। निषाद अंशन्यास ग्रह है। गायन समय मध्यान्ह माना गया है। शीतल जातिका राग होने के कारण इसका शरद ऋतु में गायन वर्जित है।

(राग-विनोद, पृष्ठ १८४)

किसी-किसी के मत से 'सारंग रागिनी' बारह प्रकार की तथा किसी के मत से अठारह प्रकार की मानी जाती है। उनमें से कुछ प्रसिद्ध नामों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

१. **बड़हंस सारंग**—परम चतुर, पीला रंग, बड़े नेत्रोंवाली कल्प वृक्ष के नीचे बैठी हुई 'बड़हंस रागिनी' का स्वरूप वर्णन कियागया है। इस चतुर लोगों के गाने योग्य सम्पूर्ण जाति की रागिनी में पूर्ववत् निषाद ही अंशन्यास ग्रह है।

(वही पृ० ११६)

२. **मधु माधवी सारंग**—पीले शरीर पर केशर लगाये हुए कमलाक्षी प्रीतम का हँसकर मुख चूम रही है। सामंत, बड़हंस और वृंदावनी सारंग के योग से बनी है तथा ऋषभ अंशन्यास ग्रह है। गायन समय मध्यान्ह।

(वही पृ० १२१)

३. **लंक दहन सारंग**—उज्ज्वल भस्म लगाए हुए, खप्पर और त्रिशूल लिये अग्नि जैसा रूप गंभीर यानी नीचे स्वरों से गाती हुई, दोपहर का समय, मेघ राग की भार्या है तथा ऋषभ अंशन्यास ग्रह है। हनुमतमत से इसका रस बीर और रौद्र है तथा दोपहर गाने का समय है। मरुवा, देशकार और गौरी इन तीनों के योग से बनती है।

(वही पृ० १६४)

४. **गौड़ सारंग**—सफेद रंग, मजबूत गुथे हुए बाल, वीणा हाथ में लिये हुए कल्पवृक्ष के नीचे बैठीहुई है। तीसरे प्रहर गाने के योग्य है। गौरी, सारंग और पूरिया के योग से बनी है।

(वही पृ० १६५)

५. **वृंदावनी सारंग**—संदली लिवास, खस के बंगले में बैठी हुई, खस का इत्र लगाये हुए फूलों की सेज बिछाकर अपने स्वामी को बुलाया है और उसके आने की खुशी में चित्त आनंद है। बिलावल और काफी के योग से बनती है तथा वर्षा ऋतु में मध्यान्ह के ३ बजे तक गाई जाती है।

(वही पृ० १६६)

६. **यमन सारंग**—धर्मांगी और काफी के योग से बनता है।

(गोस्वामी पन्नालाल कृत राग-विनोद)

(१००)

राग बिहागरौ

सुरत बिनु जल-सुत बिकल भए।
सारँग-सुता-पति-रिपु-तन प्रघट्यौ, खग-पति चखन पए॥
सारँग-पति दिखियत नहि सारँग, सारँग हाथ लए।
सारँग करत सुन्यौं है सारँग, सारँग राखि रए॥
सारँग-सुता रंग भरि लीने, सारँग-चित्र ठए।
सारँग देखि बिभ्रम भए सारँग, लै रथ भाजि गए॥
भयौ भोर सूर ह्वै प्रघटे, आँनद उँमगि भए।
सूरदास प्रभु आइ भवन तैं, तन की तपन नए॥*

शब्दार्थ—**सुरत** = सूरत, स्वरूप। **जल-सुत** = कमल जैसे नेत्र। **सारँग०**...**रिपु** = सारंग पर्वत, सुता पार्वती, पति महादेव, रिपु कामदेव। **खग-पति** = श्री कृष्ण। **सारँग-पति** = सारंग कमल, पति सूर्य। **सारँग** = रात्रि। **सारँग** = सारंगी, वीणा। **सारँग** = मृग। **सारँग** = चंद्रमा। **सारँग-सुता** = सारँग दीपक, सुता स्याही। **सारँग** = सिंह।

प्रसंग—सखी का वचन सखी से।

भावार्थ—कृष्ण की सूरत (मुख) देखे बिना कमल रूपी नेत्र दुखी हो गये हैं। देह में काम केप्रकट होने पर भी कृष्ण दिखाई नहीं दे रहे। रात्रि का समय है, कृष्ण दिखाई नहीं दे रहे, (इससे विरह अधिक होता है) इसलिये वह वीणा हाथ में लेकर बजाने लगी। वीणा में सारंग राग को सुनते ही मृग ठहर गये और चंद्रमा रुक गया। (यह देखकर नायिका समझ गई और उसने

---

* बाल. ६४-७६।

रात्रि-व्यतीत करने की दूसरी क्रिया की)। उसने स्याही से रंग भर कर सिंह का चित्र बनाया। इस सिंह को देख कर मृगों को भ्रम हो गया, अर्थात् वह उसे वास्तविक सिंह समझे और रथ लेकर भाग गये। प्रातःकाल हुआ और दो सूर्य उदय हुए (एक प्राची दिशा से और दूसरा नायक)। नायिका प्रसन्न हुई और श्री कृष्ण के भवन में पधारने से विरहणी की विरह ज्वाला नष्ट हो गई।

अलंकार—

१. यमक—

'सारंग' शब्द की अनेक आवृत्ति अनेक अर्थों में होने से।

२. भ्रान्तमान्—

सारँग०···सारँग।

यहाँ सारंग (सिंह) के चित्र को देख कर वास्तविक सिंह की भ्रान्ति हुई।

३. प्रहर्षण द्वितीय

भयो······प्रघटे।

यहाँ नायिका को एक ही सूर्योदय की इच्छा थी, किंतु नायक रूप दूसरा सूर्य और मिल गया इसलिये द्वितीय प्रहर्षण हुआ।

लक्षण—

''वांछित अर्थ से अधिकतर अर्थ का लाभ हो, उसे द्वितीय प्रहर्षण कहते हैं।

(काव्य-कल्पद्रुम)

(१०१)

राग नट

सुनि री, हरि पति आजु बिराजैं।
हरि-गति चलत, मंद भयौ हरि-बल, बल करि हरि-दल साजैं॥
हरि की चाल चलौ चंचल गति, हरि कौं हरि-दुख छाजैं।
सूरदास हरि कौं भज इक छिनु, बिरह ताप तन भाजैं॥*

शब्दार्थ—हरि=कृष्ण, हाथी, सूर्य, कामदेव, इंद्र, सिंह, हरण करने वाला। ताप=अग्नि।

प्रसंग—दूती का वचन नायिका से।

---

* बाल. ६८—५२

भावार्थ—हे सखी ! सुन, आज तेरे पति श्री कृष्ण (तेरी प्रतीक्षा में कुंज भवन में) विराज रहे हैं। हाथी की चाल से चलते हुए भी सूर्य का बल क्षीण हो गया है, अर्थात् सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है (कामियों को दिन अच्छा नहीं लगता, वह अपने प्रेमी से मिलने के लिये रात्रि ही चाहते हैं। अतः अपने प्रिय के मिलने की प्रतीक्षा में उन्हें दिन बहुत धीरे-धीरे व्यतीत होता प्रतीत होता है। दूती का तात्पर्य यह है कि इतनी प्रतीक्षा करने के पश्चात् यह शुभ बेला आई है और तू यहाँ बैठी हुई है)। कामदेव ने बल कर अपने दल को सजा लिया है, अर्थात् इस समय सुरति के सभी साधन चंद्रोदय, त्रिबिध समीर, पुष्प आदि उपस्थित हैं। श्री कृष्ण को काम रूपी दुःख लगा हुआ है। इस लिये तू सिंह की सी चंचल चाल से निडर होकर शीघ्र चल, अथवा हरि का अर्थ हरण करने वाला, जिस प्रकार कृष्ण की चाल दूसरों के दुखों के हरण करने वाली है, तू भी उन्हीं के पद-चिन्हों पर चल कर श्याम के दुखों को हरण कर (यही तुझे शोभा देता है)। इस लिये तू श्याम को भज, जिससे विरह-व्यथा दूर हो, अर्थात् तुम दोनों एक दूसरे के बिरह में बैठे हुए दुख पा रहे हो, इस लिये तुम उनसे मिलो, जिससे तुम्हारा विरह-ताप दूर हो।

अलंकार—

(१) **यमक—**

हरि शब्द की आवृत्ति अनेक बार अनेक अर्थों में होने से।

(२) **वाचक-लुप्तोपमा—**

हरि की चाल चलौ चंचल गति।

गति उपमेय, हरि की चाल उपमान, चलौ साधारण धर्म है, परंतु वाचक का लोप है।

॥ इति ॥

प रि शि ष्ट

शब्द-संग्रह

(अंक पद-संख्या के द्योतक हैं)

आ

ख

घ

झ

ट

ठ

प

फ

ब

भ

म

य

र

ल

कूटात्मक यौगिक-शब्द-संग्रह

सहायक ग्रंथ-सूची

	पुस्तक का नाम		प्राप्ति-स्थान-परिचय सहित
१	सूर सागर (दो खंडों में)	,,	नागरी प्रचारणी सभा, काशी । मुद्रक—हिंदी-टाइम-टेबिल प्रेस, सं० २००५
२	,, ,, पूर्ण		वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई । सम्पादक राधाकृष्ण दास, काशी ।
३	,, ,,	,,	,, ,,
४	,, ,,	,,	१. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (लीथो) प्रथमवार सन् १८६४
५	,, ,,	,,	२. उपर्युक्त । सम्पादक—पं० कालीचरर्ण (टाइप में)
६	,, ,,	,,	उपर्युक्त सन् १८७४
७	,, ,,	,,	मुद्रक प्रकाशक–मतब्र, कृष्णलाल (लीथो) सन् १८६०
८	,, ,,	,,	प्रकाशन–मतब इलाही प्रेस दिल्ली (लीथो) सन् १८६०
९	,, ,,	,,	प्रकाशक–मुंबैउलउलूम प्रेस, मथुरा (लीथो) सन् १८६०
१०	सूर-शतक ,,	,,	टीकाकार–बालकिशन । प्रकाशक बनारस-लाइट प्रेस सन् १८८२
११	साहित्य-लहरी (सटीक)	,,	प्रकाशक-बा० रामदीन सिंह टीकाकार सरदर कवि । खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर पटना, प्रथम वार सं. १८९८ ।

१२ श्री सूरदास का दृष्टिकूट ,, टीकाकार सरदारकवि। नवल किशोर प्रेस लखनऊ, पाँचवी बार सन् १६२६

१३ राग-कल्पद्रुम (द्वितीय भाग) ,, संग्रह-कर्ता—कृष्णानंद सागर सम्पादक—नगेन्द्रनाथ वसु । प्रकाशक—बंगीय-साहित्य-परिषद कलकत्ता, मुद्रक—विश्व-कोष प्रेस कलकत्ता, सं० १८७१-७३

१४ वर्षोत्सव ,, ,, संग्रहकर्ता—लल्लूभाई छगनलाल देसाई। प्रकाशक श्री भक्ति-ग्रंथ-माला कार्यालय, अमदावाद। सं० १६६३

१५ नित्य कीर्तन ,, संग्रहकर्ता—लल्लूभाई छगनलाल देसाई, प्रकाशक—श्री भक्ति-ग्रंथ-माला अहमदा-बाद—सं० १६६६

१६ सूरसागर (हस्तलिखित) ,, प्राप्ति-स्थान—सेठ हनुमानप्रसाद पोद्दार मा० ताराचंद घनश्यामदास कलकत्ता, लि० १८६६

१७ ,, ,, प्राप्ति-स्थान—सरस्वती भंडार काँकरोली (यह कई प्रति हैं)

१८ ,, ,, प्राप्ति-स्थान—चुन्नीलाल शेष मथुरा

ऋग्वेद

अथर्ववेद

कठोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद

श्वेताश्वेततर उपनिषद्

महाभारत

श्रीमद्भगवत-गीता

श्रीमद्भागवत

हरिवंश पुराण

स्कंध पुराण

सौन्दरानंद ।

अभिज्ञान शाकुन्तल ।

मेघदूत ।

रघुवंश (सीताराम कृत अनुवाद)

अमरु शतक ।

विक्रमाङ्कदेव चरित्र

पंचतंत्र ।

संगीत-रत्नाकर

संगीत-पारिजात

गीत-गोविंद ।

बीसलदेव रासो ।

विद्यापति-पदावली ।

विनय-पत्रिका ।

संत कबीर ।

बिहारी सतसई ।

हरिश्चंद नाटिकावली ।

रसिक-प्रिया

कवि-प्रिया

रसिकानंद

साहित्यानंद ।

ब्रजनिधि-ग्रंथावली ।

काव्य-प्रभाकर ।

काव्य-कल्पद्रुम

अलंकार-मंजूषा ।

हिंदी-विश्वकोश ।

हिंदी-शब्द-सागर ।

हिंदी शब्द-संग्रह ।

अमर-कोश ।

वैद्यक-शब्द-सिंधु ।

राग-विनोद ।